भक्तियोग

गीता का बारहवां अध्याय

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, भक्तानन्द
शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

श्री सुशील कुमार ताम्बी
प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
A/3 आर्य नगर
एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
मुरलीपुरा, जयपुर 302039
फोन : 0141-2233765
मो. : 09829547773

ज्ञान गंगा प्रकाशन
पाथेय भवन,
बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
दूरभाष : 0141-2371563

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली 110055
फोन : 011-23675667

जागृति प्रकाशन
श्री कृष्णानन्द सागर
एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
दूरभाष : 0120-2538101
मो. : 09871143768

ISBN 978-93-84133-17-7

प्रथम संस्करण : 2016 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : एक सौ रुपये मात्र

आवरण : गौरी शंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

BHAKTIYOG : Gita Ka Barhawan Adhyay
by Swami Samvit Subodhgiri

₹ 100

प्रकाशकीय

भक्ति ब्रह्म की रसात्मक अनुभूति है।

मानव चेतना के तीन पहलू हैं—

(1) ज्ञानात्मक (Knowing)

(2) रागात्मक (Feeling)

(3) संकल्पात्मक (Willing)

जीवन का लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति। जीव में व्यक्तिगत चेतना है और ब्रह्म विश्व चेतना का नाम है। इसलिए ब्रह्म-प्राप्ति के तीन मार्ग हो सकते हैं—

(क) Know the perfect पूर्ण को जानो (ज्ञान योग)।

(ख) Feel for the perfect पूर्ण के लिए सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हर्ष-विषाद सब कुछ समर्पित कर दो (भक्ति योग)।

(ग) Act for the perfect पूर्ण के लिए कर्म करो (कर्मयोग)

रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भक्ति को माना है क्योंकि सबसे महान् के प्रति सबसे पवित्र एवं पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग का नाम ही भक्ति है। बहिरंग सौन्दर्य, केवल शरीर का मांसल सौन्दर्य, उसके रूप-रंग, नैन-नक्श एवं अंग-प्रत्यंगों के लावण्य एवं मोहकता तक सीमित है। इसका वर्णन साहित्य में शृंगाररस के रूप में किया जाता है। तथा मांसल सौन्दर्य का संयमहीन आकर्षण मनुष्य को पथभ्रष्ट करके व्यभिचारी भी बना देता है। रागात्मक प्रवृत्ति का लक्ष्य है सौन्दर्य अर्थात् जीवन ऐसा सुन्दर बन जाए अथवा ऐसे परम सौन्दर्य की उपलब्धि हो जाए कि तन, मन, धन, प्राण निछावर हो जाए और इस जीवन समर्पण में परमानन्द की प्राप्ति हो जाए। बहिरंग सौन्दर्य का उपासक सौन्दर्य खोजते-खोजते अपने जीवन को इतना असुन्दर, कुरूप एवं कुत्सित बना लेता है कि वह काम का क्षुद्र कीड़ा भर बनकर रह जाता है।

बहिरंग सौन्दर्य के अतिरिक्त एक आन्तरिक सौन्दर्य है जो मनुष्य के मन को सौम्य, बुद्धि को पुष्ट, चित्त को सन्तुष्ट, अहम् को निर्मल एवं आत्मा के

आनन्द को सम्पुष्ट बना देता है। जिसका तन सुन्दर और मन मैला है, जिसका अंग-प्रत्यंग मोहक और हृदय कुटिल है ऐसे व्यक्ति को सुन्दर कहना सौन्दर्य का अपमान ही होगा। इस प्रकार जो हृदय का सुन्दर है वही सच्चा भक्त हो सकता है। भक्ति हृदय की सुन्दर फुलवारी के अनुपम भाव-पुष्पों का विश्वमंगलकारी आध्यात्मिक पराग है।

इस पुस्तक में भक्ति योग विशेषकर गीता के 12 अध्याय पर विचार किया गया है। और भक्ति के तेजस्वी-ओजस्वी स्वरूप को प्रकट किया गया है। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरीजी महाराज के आशीर्वाद एवं सांखला प्रिंटर्स के सौहार्द पूर्ण सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
मो. 09413769139

अनुक्रम

भक्ति क्या है

मानव मन की तीन प्रवृत्तियाँ है—ज्ञानात्मक, रागात्मक और संकल्पात्मक। रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य पश्चिम के विचारकों ने सुन्दर को माना। सुन्दर वस्तु, व्यक्ति के प्रति राग-अनुराग स्वाभाविक है। सुन्दर मकान, सुन्दर दुकान, सुन्दर गाड़ी, सुन्दर आफिस, सुन्दर स्त्री, सुन्दर पुरुष, सुन्दर बच्चों के प्रति किसका मन आकृष्ट नहीं होता।

भारतीय विचारकों ने रागात्मक प्रवृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भक्ति को माना। क्योंकि सबसे महान् के प्रति, सबसे पवित्र एवं पूर्ण के प्रति पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग या प्रेम का नाम ही भक्ति है। सबसे पूर्ण और पवित्र कौन है? वह परमात्मा के अलावा कौन हो सकता है। नारदजी ने भक्ति सूत्र में लिखा है—'भक्ति परम प्रेम स्वरूपा' अर्थात् भक्ति परम प्रेम स्वरूप वाली है। बहिरंग सौन्दर्य का उपासक बाहर सौन्दर्य खोजते-खोजते मनुष्य जीवन को कुत्सित और मात्र काम का कीड़ा बनकर रह जाता है। उसका मन कामी, क्रोधी, लोभी, मोही यानी दूषित हो जाता है।

भारतीय विचारकों के अनुसार बहिरंग सौन्दर्य के साथ-साथ एक अन्तरंग सौन्दर्य भी है जो मनुष्य के मन को सौम्य, बुद्धि को पुष्ट, चित्त को सन्तुष्ट, अहम् को निर्मल और आत्मा को आनन्द सम्पुट बना देता है। वही बहिरंग सौन्दर्य का उपासक मन का मलीन, बुद्धि का दुष्ट-बेईमान, चित्त का सदैव असन्तुष्ट और अहम् भाव बड़ा प्रबल होता है।

बहिरंग सौन्दर्य प्रकृति या ईश्वर की कृपा से प्राप्त होता है। यानी इसमें अपना वश नहीं है। पर हम सब अपने अन्तरंग को सुन्दर बना सकते हैं। अपने भावों विचारों को सुन्दर बना सकते हैं। शरीर तो समय आने पर बूढ़ा होगा, रोगग्रस्त होगा, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ेगी। इसमें हमारा वश नहीं। पर हम बचपन से मृत्यु पर्यन्त अपने भाव और विचार को शुद्ध रख सकते हैं। पवित्र रख सकते हैं।

बहिरंग से सुन्दर मनुष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अन्तरंग से भी सुन्दर हो। बहिरंग से सुन्दर मनुष्य अन्तरंग से मैला भी हो सकता है। जिसका तन तो सुन्दर, शरीर के प्रत्येक अंग मोहक पर मन का, पेट का, अन्दर का काला,

पापी हृदय का कुटिल हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को सुन्दर कहना सौन्दर्य का अपमान ही होगा। जैसे जलियावाला बाग हत्याकाण्ड का हत्यारा सांडर्स गोरी चमड़ी का व्यक्ति बड़ा ही दीखने में सुन्दर था, नाक-नक्श बड़े मोहक थे पर अन्दर का बड़ा घिनौना था। सुकरात ग्रीक का सबसे कुरूप व्यक्ति था, पर अन्दर का बड़ा सुन्दर व्यक्ति था। जब तक सृष्टि है, मानवता के हृदय मन्दिर में पूजा जाता रहेगा। इस प्रकार जो हृदय का सुन्दर है, वही सच्चा भक्त हो सकता है। भक्ति हृदय की सुन्दर फुलवाड़ी के अनुपम भाव पुष्पों का विश्वमंगलकारी आध्यात्मिक पराग है। वह अपने ईमान, आस्था, श्रद्धा पर अडिग रहता है। वह किसी भी परिस्थिति में प्राण की कीमत पर भी विचलित नहीं होती, तभी वह भक्ति है।

गाँधीजी Living faith in living God. अगर मेरे शरीर के एक हजार टुकड़े भी कर दिये जाएँ, तो मेरे शरीर का प्रत्येक टुकड़ा उठकर कहेगा कि भगवान् हैं। ऐसे ही भाव मीरा बाई, स्वामी रामतीर्थ ने प्रकट किये हैं—

हम उसी में राजी हैं, जिसमें तेरी रजा हो।
चाहे धरा में धंसा दो या सूली-फाँसी पर चढ़ा दो,
चाहे मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से,
चाहे तेग तलवार से या तेज तीर से तराशो,
छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन की।

इसी भाव के आधार पर सिक्ख गुरु, बन्दा वैरागी, वीर हकीकत राय बलिदान हो गये। ये महापुरुष अपनी भक्ति-निष्ठा के आधार पर जीते हैं और मरते हैं। जो भक्त होते हैं, उनकी अपनी निष्ठा होती है और वह किसी भी कीमत पर उससे डिगता नहीं है। पर हम सामान्य जनों की अपनी कोई निष्ठा नहीं होती है। ऐसे लोगों के लिये स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं, मुझे हजारों लोग नहीं चाहिये जो हजारों लोगों को Opinion को, उनकी श्रद्धा को वे जानते हैं पर अपनी राय क्या है, अपनी श्रद्धा-निष्ठा क्या है, नहीं जानते। उसकी परवाह नहीं है। वे जानते हैं सूर, तुलसी, मीराबाई की राय क्या है, उनकी निष्ठा क्या है, वे क्या कहते हैं। पुस्तकालयों में हजारों पुस्तकें हैं, जिसमें हजारों लोगों का Opinion है। मुझे तो एक ही व्यक्ति चाहिये जिसकी अपनी निष्ठा है, अपना Opinion है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं, जो हजारों लोगों का Opinion तो बताते हैं पर अपना Opinion कुछ नहीं है, वे उस धोबी की तरह हैं, जो यह जानते हैं, यह पोशाक अमुक राजा की है, यह अमुक जमींदार की है, पर उसके स्वयं के शरीर पर तो चिथड़ा पड़ा है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं, वैसे व्यक्ति की जरूरत नहीं है, जिसके अपने शरीर पर तो चिथड़े पड़े हैं पर दूसरे के शरीर की पोशाक को जानते हैं।

पुरुष श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धा वाला है, वह वही है अर्थात् उसी श्रद्धा के अनुरूप है। मानव का बहिरंग तो मात्र नश्वर आवरण मात्र है। उसके भीतर उनकी श्रद्धा गुम्फित है, अन्तर्निहित है, जो वास्तविक मानव है। बुद्ध का शरीर हजारों वर्ष पहले मृत हो चुका है, किन्तु उनकी श्रद्धा अभी तक अमर है। राम से रमण महर्षि तक जितने महापुरुषों को हम पूज्य मानते हैं, उनके शरीर कभी के नष्ट हो चुके हैं, हम उनकी अमर श्रद्धा की ही पूजा करते हैं। महापुरुषों का शरीर मृत पुरुष है परन्तु उनकी श्रद्धा अमर पुरुष है। इसलिये राम की श्रद्धा वास्तविक राम है, कृष्ण की श्रद्धा वास्तविक कृष्ण है, दधीचि की श्रद्धा वास्तविक दधीचि तथा गाँधी की श्रद्धा वास्तविक गाँधी है।

ये सब महान पुरुष अपनी श्रद्धा (भक्ति) के लिये जी रहे हैं, जिससे वे प्राण की कीमत पर भी विचलित नहीं होते। इन महापुरुषों के जीवन से श्रद्धा-भक्ति को निकाल दें तो इनका मूल्य दो कौड़ी का भी नहीं बचता। राम से मातृ-पितृ भक्ति निकाल देवें, रमण महर्षि से ईश भक्ति, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से देश भक्ति, गाँधीजी से सत्य और अहिंसा, महावीर से जीव दया, चैतन्य महाप्रभु से करुणा, मानव प्रेम, ईश प्रेम निकाल दें तो ये महामानव नहीं महापागल और आत्महत्यारे कहलायेंगे?

हममें और महापुरुषों में अन्तर क्या है? जहाँ महापुरुष सबसे महान् के प्रति श्रद्धा भक्ति के लिये जीते हैं, वहाँ हम संसार की नश्वर, घटिया, तुच्छ भौतिक वस्तुओं के लिये सुख-दुःख भोगते हुए जीवन व्यर्थ में गंवाते चले जाते हैं। महापुरुष संसार से घृणा नहीं करते क्योंकि यह भी भगवान् का व्यक्त रूप है। वह संसार और उसके रिश्तों को भगवान् के प्रतिनिधि, मेहमान मानकर उनकी सेवा करते हैं। यानी संसार के प्रति उनका स्नेह गौण है। मुख्य तो भगवान् के प्रति है। पर हमारा क्रम उलटा है, हमारा प्राथमिक, मुख्य, सर्वाधिक प्रेम संसार के लिये होता है, फिर समय शक्ति बचे तो भगवान् को देते हैं। भगवान् के भजन को आगे के लिये टालते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, हम सब सांसारिक वस्तुओं, व्यक्ति को अपना प्रेम समर्पित करते हैं, उसका प्रेम पाने के लिये सुखी-दुःखी होते रहते हैं। सांसारिक जितने रिश्ते-नाते हैं उनमें व्याप्त प्रेम सीमित एवं कालबाधित प्रेम है। अविनश्वर प्रेम या परम प्रेम नहीं है। यदि एक नश्वर प्रेमी किसी अन्य नश्वर प्रेमिका से प्रेम करता है, तो प्रेम के कर्ता और प्रेम के पात्र नश्वर होने के कारण उनके बीच का प्रेम भी नश्वर ही होगा परम प्रेम नहीं। परम प्रेम केवल परम तत्त्व से ही हो सकता है, किसी नश्वर वस्तु से नहीं अतः सच्ची भक्ति परमेश्वर से ही हो सकती है, अन्य किसी से नहीं। इसलिये भगवान् कहते हैं—अपने प्रेम, भक्ति श्रद्धा को नश्वर वस्तु-व्यक्ति से न

जोड़कर अविनश्वर प्रभु के लिये परमपूर्ण के लिये समर्पित करें इससे हम भी और हमारा प्रेम भी अमर हो जाएगा। अपने हर्ष-शोक, संयोग-वियोग, अपने हृदय के सब भाव, लोभ-मोह, ईर्ष्या सब पूर्ण के लिये समर्पित करो। उसी के मिलन की इच्छा के लिये व्याकुल बनो, उसी के संयोग में आनन्द के गीत गाओ, उसी के वियोग में आँसू बहाओ। उसी के साथ अपना आध्यात्मिक परिणय कर लो जैसा कि मीरा बाई ने किया, गोपियों ने किया, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी रामतीर्थ ने किया। भक्त उसकी स्मृति में जीता है और विस्मृति में मृत्यु चाहता है। गुरु नानकदेव कहते हैं—

आँखा जीवा, विसरै मर जावां।

अर्थात् प्रभु की स्मृति में जीता है, उसका हृदय गद्गद हो जाता है, और उसके विस्मरण में मृत्यु चाहता है। महात्मा कबीर कहते हैं—

के विरहिनी को मीच दे के आपा दिखलाय,
आठ पहर का दाझणा मोसे सहा न जाय।

हे भगवान्! या तो मुझ विरही को मौत दे या अपने आपका दर्शन करा दो। आठों पहर वियोग में जलना मुझसे सहा नहीं जाता।

महर्षि नारद ने भक्ति सूत्र में लिखा है—

'तद् विस्मरणे परम आकुलतेति।'

अर्थात् प्रभु के विस्मरण से भक्त को परम व्याकुलता का अनुभव होता है। जब भक्ति ही भक्त का जीवन सर्वस्व है, तो उसे भक्ति में बाधा होने पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसका कोई जीवन ही छीन रहा है। जिस प्रकार से जीव प्राणों पर संकट आने से परम व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार भक्त प्रेमी भगवान् के विस्मरण से तड़पने लगता है।

गुरु नानकदेव कहते हैं—

गोविन्द मिलन की यही तेरी बरिया।
अवर काज तेरे किते न काम।
कर साधु-सङ्गत भज केवल नाम।

पुनः कहते हैं—

लाख शीश तेने दिये यमराज को भेंट,
एक शीश तेने न दियो नारायण के हेतु।

अर्थात् चौरासी लाख योनि में मानव ही एकमात्र योनि है जिसमें ईश्वर की प्राप्ति सुलभ है। अन्य सब योनियों में तो संसार धर्म का निर्वाह किया एवं संसार

के लिये अनगिनत शीश दिये हैं, अतः केवल संसार धर्म तक सीमित रहना मनुष्य योनि का अपमान है, साथ ही भगवान् की कृपा का भी अपमान है।

मीरा ने अपने सांसारिक वर के बारे में माँ से कहा था—

ऐसा वर को के वरूं जो जन्मे और मर जाय।
वर वरिए गोपालजी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाए।

और प्रभु के संयोग में आनन्द के गीत गाते हुए कहती है—

पायो जी म्है तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारा सतगुरु,
करि किरपा अपनायो।
जनम जनम री पूंजी पाई,
जग मांय सबै खोवायो।
खरच न खूटे, चोर न लूटे,
दिन-दिन बढ़त सवायो।
सत री नाव, खेवटिया सतगुरु,
भवसागर तर आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
हरख हरख जस गायो।।

जब भोजराज और राणा सांगा के गत हो जाने के बाद रतनसिंह के पश्चात् विक्रमादित्य सिंहासनारूढ़ हुए तो मीरा पर अत्याचार की परम्परा प्रारम्भ होकर पराकाष्ठा पर पहुँच गयी, असहनीय हो गई तब मीरा बाई ने तुलसीदासजी से पत्र लिखकर मार्गदर्शन चाहा—तब तुलसीदासजी ने मीरा बाई को लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम स्नेही।।1।।
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितन्हि, भये मुद मंगलहारी।।2।।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लौ।
अंजन कहा आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौ कहाँ लौं।।3।।
तुलसी सो सब भांति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो,
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो।।4।।

यह उत्तर पाकर मीरा ससुराल छोड़कर वृन्दावन चली गई।

अकबर ने तुलसीदासजी को भी अपने दरबार में स्थान देने के लिये बुलाया ताकि वे अकबर के दरबार की शोभा बढ़ायें और उसकी प्रशस्ति गायें। और वे राष्ट्र जागरण, धर्म जागरण का कार्य कर रहे थे उससे वे विरत हो जायें। तब तुलसीदासजी ने निम्न दोहा लिखकर भेज दिया—

हम चाकर रघुबीर के पटो लिखो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे, नर के मनसबदार।।

गोस्वामी तुलसीदास के समय मुगलों का युग था। दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो के माहौल में भी तुलसीदास राजदरबार के नहीं राम दरबार के भक्त हैं, उनके लिये कार्यरत है। तुलसीदासजी ने ही मानसिंह को महाराणा प्रताप के विरुद्ध संघर्ष न करने और अकबर की राजनीति से विरत कर उसे प्रायश्चित्त स्वरूप तीर्थयात्रा में लगाया। इसलिये हरकी पैड़ी में उसकी छतरी बनी हुई है। यह सब तुलसीदासजी की आज्ञा और प्रेरणा से हुआ।

भक्त कुम्भनदास श्री वल्लभाचार्यजी की अष्टछाप परम्परा के चार शिष्यों में से सबसे प्रथम शिष्य थे। ये कीर्तन अच्छा गाते थे इसलिये वल्लभाचार्यजी ने उन्हें श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की सेवा दी।

एक बार किसी ने भक्त कुम्भनदास का एक पद अकबर को सुनाया। अकबर को बहुत अच्छा लगा और सवारी भेजकर फतहपुर सीकरी बुलवाया। पहले भक्त कुंभनदासजी ने कहा—भाई, हमारा बादशाह से क्या काम? अधिक आग्रह पर वे सवारी का उपयोग न करते हुए पैदल ही सीकरी पहुँच गये। जब उन्हें दरबार में बुलाया गया तब वे फटे कपड़े पहने ही अकबर के सम्मुख आ गये। शाही ढंग से सजे स्थान पर अकबर ने बैठने को कहा। अकबर ने पद गाने को कहा तो कुम्भनदास गाने लगे—

जाको मनमोहन अंगीकार करै,
एकौ केस खसै नहिं सर ते जो जग बैर परै।

(हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास भाग-5 पृष्ठ 74)

अर्थात् जिसको मनमोहन (परमेश्वर) ने स्वीकार कर लिया हो तो उसके सिर के एक बाल को भी कोई कष्ट नहीं दे सकता चाहे सारी दुनिया ही उससे वैर क्यों न ठान ले। उस समय उन्होंने एक नया पद भी बनाकर गाया—

भक्तन को कहाँ सीकरी सो काम।
आवत जावत पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखी अघ लागे ताको करन पड़ी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम।।

(हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास भाग-5, पृष्ठ 75)

अर्थात् भगवद् भक्तों को सीकरी (अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी) से क्या लेना-देना। आने-जाने में पैरों की जूती तो टूटती ही है, साथ ही प्रभु का नाम भी विस्मरण हो जाता है। जिनके मुख को देखने से पाप लगता है, ऐसे लोगों को प्रणाम करना पड़ता है। भक्त कुंभनदास कहता है कि, हे मेरे गिरधर! यह सब राजधानी (धाम) झूठी है। इसको सुनकर अकबर बहुत कुढ़ा तथा कुम्भनदासजी से कुछ माँगने को कहा। कुम्भनदासजी को अकबर से कुछ अपेक्षा ही नहीं थी। उनका मन तो वहाँ आकर दुःखी ही था। भक्त कुम्भनदासजी ने निर्भीकता के साथ कह दिया।

आज पाछे माको कबहूँ बुलाइयो मति।

(वहीं पृष्ठ 76)

अर्थात्! आज के पश्चात मेरे को कभी मत बुलाना। इस घटना से भक्त कुम्भनदासजी की दृढ़ ईश्वर भक्ति, लौकिक सुख-सुविधा से विरक्ति, हृदय की निर्भीकता तथा सभी बातों में निःस्पृहता का पता चलता है।

नरेन्द्र के पिताजी का अचानक देहावसान हो गया। नरेन्द्र का परिवार अन्न के दानों के लिये मुहताज हो गया। उसे एक नौकरी तक नहीं मिल पायी। ईशान मुखर्जी कंट्रोलर जनरल के दफ्तर में एक विभाग के प्रभारी थे। वे प्रयास करने पर कुछ काम बन सकता था।

नरेन्द्र ईशानचन्द्र के घर पहुँचा तो ठाकुर आ चुके थे। गायन की व्यवस्था हो रही थी। पखावाज, तबले तथा तानपूरे का प्रबंध किया जा रहा था। उधर से ईशानचन्द्र मुखर्जी आये।

नरेन्द्र! कुछ गाओ भाई। ठाकुर के आनन्द के लिये गाओ। नरेन्द्र ने ईशानचन्द्र मुखर्जी की ओर देखा—गाने का अनुरोध करने वाला यह व्यक्ति कंट्रोलर जनरल के दफ्तर में एक विभाग का प्रभारी है। वह उनकी नौकरी का प्रबन्ध कर रहा है। नरेन्द्र को उसे प्रसन्न रखना चाहिये।

नरेन्द्र ने गाना प्रारम्भ किया। ठाकुर ने नरेन्द्र के मुख की ओर देखा। उसके स्वर में तन्मय होने का प्रयत्न किया। सहसा वे ईशान की ओर मुड़े और अत्यन्त मन्द स्वर में बोले—मैं विश्राम करूँगा और ठाकुर, ईशान और उसके पुत्र शिरीष का सहारा लेते हुए उठकर चले गये। महेन्द्र गुप्त भी उनके साथ चले गये।

नरेन्द्र ने देखा उसका गाना प्रारम्भ होते ही ठाकुर उठकर चले गये हैं। नरेन्द्र का मन बुझ गया। जिसके लिये गा रहा था जब वह ही सुनने के लिये नहीं ठहरे, तो गाकर क्या होगा? नरेन्द्र को उनका यह व्यवहार समझ में नहीं आया।

जब नरेन्द्र ठाकुर के पास गया नरेन्द्र के मन में द्वन्द्व था। चेहरा प्रसन्न नहीं था—ठाकुर के पास जाकर अनमना सा बैठ गया। ठाकुर बोले, 'तेरा गाना सुन

रहा था पर अच्छा न लगा, इसलिये चला आया। फिर कहा, अभी इसका मन नौकरी के लिये गा रहा है, ईश्वर के लिये नहीं, इसलिये सर्वथा अलोना हो गया था, एकदम फीका।

अब उनका व्यवहार नरेन्द्र को समझ में आया.....ठीक ही कह रहे थे। शब्द कुछ भी हो गा तो वह ईशान के लिये ही रहा था। उसका मुख लज्जा से लाल हो गया था।

यही बात तानसेन और उनके गुरु हरिदासजी में पाते हैं। तानसेन के गायन की प्रशंसा अकबर ने की तो तानसेन ने कहा, मेरे में तो क्या है? मेरे गुरु को सुनें तब आपको पता लगेगा गायन क्या होता है, तो कहा, अपने गुरु को बुलाओ। तानसेन ने बताया वे दरबार में नहीं गाते उनको सुनने के लिये उनके पास ही जाना पड़ेगा। वे जंगल में रहते हैं और किसी के आग्रह पर नहीं गाते हैं। उनको तो छुपकर सुनना पड़ेगा। और जब अकबर ने जंगल में छुपकर हरिदासजी महाराज का गायन सुना तो अचम्भित हो गया। तब अकबर ने तानसेन से कहा, तुम्हारे गुरु तो गजब का गाते हैं, तुम ऐसा क्यों नहीं गा सकते? तब उसने कहा, वे भगवान् के लिये गाते हैं मैं आपके लिये।

भक्त प्रह्लाद को हरि भक्ति से हिरण्यकशिपु किसी भी प्रकार से विचलित नहीं कर पाया। ध्रुव की भक्ति से जब इन्द्रासन डोलने लगा तो उसे विचलित करने उसकी माँ बनकर आया क्योंकि उस पर अप्सराएँ कारगर हो नहीं सकती। ध्रुव ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि हरिभक्ति से च्युत करने वाली मेरी माँ नहीं हो सकती। ऐसे ही भरत रामभक्ति से विरत करने वाली अपनी माँ कैकेयी को स्वीकार नहीं कर पाया। यही बात राजा बलि में पाते हैं उनके गुरु शुक्राचार्य ने वामन भगवान् से विरत करना चाहा तो उसे स्वीकार नहीं किया।

उद्धवजी गोपियों को कृष्ण भक्ति से विरत कर ज्ञान का उपदेश देने आये ताकि वे कृष्ण की विरह व्यथा से मुक्त हो सकें। पर गोपियों पर कारगर होने के स्थान पर वे स्वयं गोपियों के रंग में रंग गये।

गोपियाँ उनसे कहती हैं—

यह तो प्रेम की बात है ऊधो बंदगी तेरे वश की नहीं है।
जहाँ सर दे के होते हैं सौदे वह आशिकी इतनी सस्ती नहीं है।।

सच्ची भगवद् भक्ति का फल क्या है—इस विषय में एक मार्मिक गजल है—

जाम पे जाम पीने से क्या फायदा,
सुबह को पीओ शाम को उतर जायेगी

एक बार उसकी नजरों को देख
सारी उम्र नशे में गुजर जायेगी।

औरंगजेब के दीवान बलराम की कथा—

कहते हैं कि औरंगजेब के दीवान बलराम थे। दरबार में बैठे थे, ततैये ने डंक मारा, परन्तु बादशाह के डर के कारण हिले-डुले नहीं, हाथ तक नहीं हिलाये। जब उठकर जाने लगे तब अनुभव किया कि यह डंक उनके शरीर पर नहीं दिल में लगा है। बादशाह की नौकरी से जो रुपया-पैसा मिलता है, उसके कारण यह दासता की वृत्ति मन में घर कर गई है। वे घर जाने के बदले में जंगल को निकल गये। जंगल में जाकर टाँगे पसारकर पेड़ का सहारा लेकर लेट गये। उनकी ढूँढ़ मचने लगी। औरंगजेब भी उनकी तलाश में वहीं पहुँचे। वे मस्त पड़े थे। पूछा—दीवान साहब, टाँगे कब से पसारी? बोले—जब से हाथ समेट लिये। दीवान दीवाना बन गये थे, उस भगवान् के साथ नाता जोड़ लिया था, जो बादशाहों का बादशाह है। जब हाथ ही फैलाना है, तब उसके सामने क्यों न फैलायें जिसके सामने दुनिया के बादशाह भी हाथ फैलाये खड़े हैं?

फकीर का दृष्टान्त : नाता इसके साथ नहीं उसके साथ जोड़ो।

एक बादशाह की सवारी निकल रही थी। रास्ते में एक फकीर खड़ा था जिसे सब दुत्कारते थे। बादशाह ने खड़े होकर यूँ ही पूछ लिया—कैसे मिजाज हैं? उसके बाद सब लोग उस फकीर की दोस्ती के लिये ललचाने लगे। वे समझने लगे कि उसका बादशाह के साथ दोस्ताना है। इसके माध्यम से उनके पास पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार जो भगवान का हो जाता है, उसे सब-कुछ मिल जाता है। सब-कुछ मिलने का अर्थ धन-दौलत, संसार का वैभव नहीं वरन् सब-कुछ का मतलब वह शान्ति है जो सुखों का सुख है। इसे उपनिषदों में कहा है, अल्प में सुख नहीं भूमा में सुख है।

एक भेड़ का दृष्टान्त—एक भेड़ जंगल में गुम हो गई। उसे खाने के लिये कुत्ता, चीता सब आ पहुँचे। उसने सोचा—मरना ही है तो शेर के हाथों क्यों न मरूँ? वह शेर की गुफा के सामने बैठ गई। चीता उसे खाने आया। भेड़ ने कहा—बेशक खा जाओ, परन्तु देख लो कहाँ बैठी हूँ। शेर से दुश्मनी लेनी हो, तो बेशक खा जाओ। चीता डर के मारे चला गया। उसे जाते देख और कोई पास न फटका। इतने में शेर निकला और भेड़ ने अपना सिर आगे कर दिया। शेर सोचने लगा, यह कैसी भेड़ है जो अपने-आप अपने को पेश कर रही है। भेड़ ने कहा—कुत्ते, गीदड़ मुझे खायें, इससे अच्छा तो आपके सामने अपने को पेश कर देना ठीक है। शेर ने कहा—अब तू शेर है, मैं भेड़ हूँ। दोनों साथ रहने लगे। उन्हें साथ फिरते देख सब

कहने लगे, यह शेर की भेड़ है। फिर भेड़ अकेली जंगल में कूदती-फाँदती फिरने लगी। जो भगवान् का हो जाता है उसमें वही हिम्मत आ जाती है।

इसी दृष्टि से यम-नचिकेता संवाद, याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद पर विमर्श करेंगे तो यही पायेंगे कि अमर से जुड़कर ही अमर हो पायेगा। इस प्रकार भक्ति वीरों का भूषण है। यह कायर निठल्ले, दुर्बल, भावुक लोगों के लिये नहीं है, जो थोड़ी-सी विपत्ति आते भाग खड़े होते हैं, अपनी भक्ति, निष्ठा की रक्षा नहीं कर सकते हैं। यह कर्मठ वीरों का भूषण है जो हर परिस्थिति में अपनी भक्ति निष्ठा, आदर्श पर दृढ़ रहते हैं, इसके लिये हर सम्भव बलिदान देने को तत्पर रहते हैं जैसा सिक्ख गुरुओं में, विप्लवी बन्धुओं में पाते हैं।

हमारा मन भी प्रभु प्रेम में पग गया, भर गया है, यह कैसे जानेंगे? जब अचेतन मन में भी प्रभु का प्रवेश हो जाय तब नींद खुलते ही प्रभु का स्मरण होने लगता है, हृदय गद्‌गद हो जाता है तब समझें प्रभु प्रेम का प्रवेश हमारे अन्दर हो रहा है।

मुझे भूगोल पढ़ाने में भिन्न-भिन्न देशों की जानकारी करनी पड़ती थी। उसके साथ उन देशों का परिचय भी करना पड़ता था। इस तरह मैं भारत से परिचित हुआ। मैं जैसे-जैसे उसका अध्ययन करता गया वैसे-वैसे उसके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी....मैंने उसके तत्त्वचिंतन में रुचि ली। गीता और उपनिषदों का फ्रेंच भाषा में जो अनुवाद छपा, मैंने उसे पढ़ा और उसने मुझे आजीवन विस्मृत रखा।

—जर्मन दार्शनिक, कांट

× × ×

मेरी अन्तरिक्ष यात्रा में मेरे पास रखी गीता निरन्तर मेरा उत्साह बढ़ाती रही, तभी में 195 दिनों तक अंतरिक्ष में रहने का विश्व कीर्तिमान स्थापित कर सकी।

—सुनीता विलियम्स

देश भक्ति ईश भक्ति की क्रमिक सीढ़ी है

जिस प्रकार ईश भक्ति की, देव भक्ति की पुकार है, वैसे ही देश भक्ति की भी पुकार है। हमारे यहाँ देव भक्ति, ईश भक्ति और देश भक्ति में कभी अन्तर नहीं किया गया है। देव भक्ति—देश भक्ति की एक अखण्ड-अविचल अविच्छिन्न परम्परा वेदकाल से आज तक पाते हैं। भारत भू को ही धर्म भूमि, मोक्ष भूमि, देव भूमि माना गया है, जहाँ जन्मने के लिये देव भी तरसते हैं। तीर्थ यात्रा परम्परा द्वारा भी देव दर्शन और देश दर्शन, दोनों साथ-साथ सिद्ध होते हैं। चारों धाम की धार्मिक तीर्थयात्रा के धार्मिक कृत्य से राष्ट्रीय एकता का जो चमत्कार हिन्दू धर्म ने कर दिखाया वह विश्व इतिहास में अद्वितीय है। गंगोत्री से गंगाजल की कांवर भरकर यात्री सारे देश की यात्रा करते हुए जब रामेश्वरम् में पहुँचकर उस गंगाजल से भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं या रामेश्वरम् से सागर के जल की कांवर लेकर हिमालय में केदारधाम में भगवान् शिव का अभिषेक करते हैं उन्हें अलौकिक आध्यात्मिक सन्तुष्टि और भारत की सांस्कृतिक अखण्डता की अनुभूति होती है।

देश भक्ति ने ही प्राचीनकाल में जब भारत प्रशासनिक दृष्टि से एक नहीं होने पर भी हजारों राजा-रजवाड़ों के बाद भी वृहत्तर भारत को जन्म दिया था। देश भक्ति की पुकार हम महर्षि अगस्त्य, विश्वामित्र, वशिष्ठ, राम में पाते हैं। राम जिन्हें अयोध्या से 14 वर्ष का विछोह प्राप्त हुआ था, उससे एक दिन भी अधिक विछोह सहन नहीं है। उन्होंने ही उत्तर भारत से दक्षिण भारत को जोड़ा। हम देश-भक्ति की पुकार श्रीकृष्ण में पाते हैं, पूर्व भारत और पश्चिम भारत को जोड़ दिया।

हम देश भक्ति की पुकार कुमारिल भट्ट और आद्यशंकराचार्यजी में पाते हैं, आचार्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त में पाते हैं, ऋषि पतंजलि और पुष्यमित्र में, स्वामी विद्यारण्यक और हरिहर बुक्क में, गोस्वामी तुलसीदास और राणा प्रताप में, समर्थ स्वामी रामदास और शिवाजी में, प्राणनाथ स्वामी एवं छत्रसाल में, सिक्ख गुरुओं और बन्दा बैरागी में पाते हैं।

देश भक्ति की पुकार महर्षि दयानन्द में पाते हैं, जो कहते हैं, सुराज्य से स्वराज्य कोटिशः अच्छा है। स्वामी विवेकानन्द में पाते हैं, जो कहते हैं पचास वर्षों के लिये सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ, तुम्हारा एकमात्र अराध्यदेव भारत है। ऋषि बंकिम देश के लिये रोते हैं और उसे माँ दुर्गा में तदाकार देखते हैं। ऋषि अरविन्द घोष अपने तीन पागलपन में एक में वे कहते हैं, मैं देश को मृण्मय नहीं चिन्मय और माँ भवानी से उसे तदाकार देखता हूं। वीर सावरकर कहते हैं, हर भारतीय का हिन्दूकरण और हर हिन्दू का सैनिकीकरण हर सैनिक का आधुनिकीकरण करो। मालवीयजी देश के लिये रोते हैं। गाँधीजी देश के लिये रोते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर रोते हैं। क्या मेरी माँ दुर्बल है? जिसने सारे विश्व को सभी दृष्टियों से स्तनपान कराया है, वह कभी दुर्बल नहीं हो सकती। सुभाष बोस कहते हैं—तुम मुझे खून हो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा। खुदीराम बोस कहता है—

एक बार बिदाय दे मां फिरे आसी,
हांसी हांसी पोडबो फांसी देखबे भारतवासी।

विप्लवी बंधुओं का प्रिय गीत था—

मेरा रंग दे वसन्ती चोला,
मेरा रंग दे वसन्ती चोला।
इसी रंग में वीर शिवा ने,
मां का बन्धन खोला।। मेरा....

रामप्रसाद बिस्मिल कहते हैं—

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।।

वीर भगतसिंह अपने छोटे भाई कुलतार सिंह को अपना अन्तिम पत्र लिखते हुए कहता है—

उन्हें यह फिक्र है हरदम,
नया तेज जफा क्या है,
हमें यह शौक है देखें,
सितम की इन्तहा क्या है?
मेरी हवा में रहेगी,
ख्याल की बिजली
यह मुश्ते खाक है फानी
रहे या न रहे।

जिस प्रकार ईश भक्ति से प्रेरित होकर सिक्ख गुरुओं ने अपने बलिदान दिये वैसे ही देश के प्रति अनन्य भक्ति ने ही स्वातंत्र्य संग्राम के काल में छाती तानकर गोलियाँ खाने का दुर्दम्य साहस प्रदान किया था भारतीय सन्तानों को। सब प्रकार के अमानुषिक कष्ट सहने, हँसते-हँसते फाँसी के फंदों को चूमने के लिये प्रेरित किया था अनेकानेक नौजवानों को। सालो-साल जेल की यातनाएँ स्व खुशी से भुगतने के लिये प्रोत्साहित किया था देश के असंख्य नर-नारियों को। अच्छी से अच्छी नौकरियों पर ठोकर मारकर स्वातन्त्र्य देवता के चरणों में सर्वस्व लुटाने के लिये आगे बढ़ाया था देश के युवक-युवतियों को। उसी ने हमें विश्व व्यापी साम्राज्य की शक्ति के चुंगल से मुक्त कर स्वतन्त्र कहलाने का गौरव प्रदान किया।

इस प्रकार भावनाओं के द्वारा, त्याग और बलिदान के द्वारा देश की पूजा, देव की पूजा यही भक्तियोग है। हमारी शास्त्र परम्परा कहती है—दो ही व्यक्ति सूर्यमण्डल को भेद सकते हैं, एक तो देश के लिये समरांगण में जो प्राण विसर्जन करते हैं और दूसरे, योग के द्वारा प्राण त्यागते हैं। अतः देव भक्ति और देश भक्ति पृथक्-पृथक् तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व है।

इसलिये किसी भी देव भक्त ने, देश व समाज की उपेक्षा नहीं की। चाहे स्वयं भगवान् राम और कृष्ण हों। चाहे आचार्यों में स्वयं आद्य शंकराचार्य हों या रामानुजाचार्य, रामानन्दजी या चैतन्यमहाप्रभु हों। वर्तमान युग में स्वतन्त्रता संग्राम के प्रायः सभी नायक आध्यात्मिक विभूति थे, चाहे आप स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता, महर्षि दयानन्द या अरविन्द, लोकमान्य तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, गाँधीजी को लेवें।

शस्त्र से सुरक्षित देश में ही मातृभक्ति, पितृ भक्ति, देश भक्ति, शास्त्र भक्ति, देव भक्ति, ईश भक्ति सम्भव है, अन्यथा आपके सामने ही माँ-बहन-बेटियों के साथ दुराचार होगा, उनके शील का अपहरण सामूहिक रूप से होगा। देव मूर्तियों, देवालयों को खण्ड-विखण्ड, अपमानित किया जायेगा। शास्त्रों व पुस्तकालयों की होली जलेगी। ब्रह्मज्ञानियों का शिरश्छेदन होगा।

अतः शस्त्र से सुरक्षित राष्ट्र के अभाव में न आप माँ-बहनों के शील की रक्षा कर सकते हैं, न देश की, न शास्त्रों की, न महापुरुषों की, न देवालयों की, न तीर्थ की, ना ही पुस्तकालयों की रक्षा कर सकते हैं। न अपने परम्परागत कला-कौशल की, न शिल्प की, न अपने व्यवसाय वाणिज्य-कृषि की, न वंश की, न अपने श्रद्धा बिन्दु, न मान बिन्दु, न शिक्षा, न अपनी भाषा वेश-भूषा, न संस्कृति की, न अपने परिवार की, न अपनी नौकरी की, पेट की, न सिद्धान्त निष्ठा की, न अपने आदर्श की, न अपने प्रेम की, ना ही अपने जीवन की रक्षा कर सकते हैं।

अतः देश भक्ति के अभाव में आप न अपनी न अपने देश की, देव भक्ति, ईश भक्ति, शास्त्र भक्ति, सिद्धान्त भक्ति आदि में से आप किसी को भी सुरक्षित नहीं रख सकते। अतः ईश भक्ति की सुरक्षा के लिये भी देश भक्ति अनिवार्य है।

जो-जो देश अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा नहीं कर सके वे अपनी देव भक्ति, ईश भक्ति की, अपनी सभ्यता, संस्कृति, पूजा पद्धति की रक्षा नहीं कर पाये। धीरे-धीरे उनसे ईश भक्ति, दर्शन, जीवन आदर्श, रीति-रिवाज, उत्सव छीन लिये गए और वे ईसाई-इस्लाम जैसे विदेशी, विधर्मी, नृशंस, बर्बर, पैशाचिक प्रवृत्ति में रूपान्तरित होकर नरपिशाचों की श्रेणी में खड़े हो गये।

भक्ति शब्द भज धातु से बना है जिसका अर्थ है, सेवा। शब्दकोश में और भी कई अर्थ दिये हैं जो इस प्रकार हैं—प्रेम, पूजा उपासना, श्रद्धा, सम्मान। जिसके प्रति प्रेम होगा, भक्ति होगी उसके प्रति सेवा का भाव भी होगा। अपने से बड़ों के प्रति पूज्य भाव से, श्रद्धा से, अपने समान के प्रति सख्य भाव से, छोटे के प्रति वात्सल्य भाव से सेवा करते हैं। पत्नी, सास-श्वसुर की सेवा पूज्य भाव से पति की सेवा पूज्य एवं सख्य भाव से व पुत्र-पुत्रियों की सेवा वात्सल्य भाव से करती है। ऐसे ही पति पत्नी की, मित्रों की सेवा सख्य भाव से, माता-पिता की सेवा पूज्य भाव से, पुत्र-पुत्रियों की सेवा वात्सल्य भाव से करता है। ऐसे ही भगवान के प्रति प्रेम है, भक्ति है तो उनकी सेवा पूज्य भाव से, श्रद्धा भाव से करते हैं। भगवान का प्रकट लीला काल है, तो उनकी प्रत्यक्ष सेवा करना जैसा कि हम हनुमानजी, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के जीवन में पाते हैं, इन्होंने प्रभु राम की भक्ति सेवा के रूप में की। यही बात हम पाण्डवों में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पाते हैं। ये सब दुष्ट दलन में, सज्जन शक्ति की रक्षा में एवं ज्ञान की, न्याय की, धर्म की पुनः प्रतिष्ठा में सहायक बनते हैं। भगवान् ने विभूति योग में बताया जहाँ-जहाँ सज्जन शक्ति कार्य कर रही है, वहाँ-वहाँ मेरी ही विभूति कार्य कर रही है। अतः उनका सहयोगी बनना भगवान् का कार्य करना ही है। भगवान् ने ही अपने आपको जीव-जगत के रूप में प्रकट किया है। यह जीव और जगत् भगवान् का ही सगुण-साकार रूप है, भगवान् का विराट रूप है, भगवान् का वैभव है, विलास है। अतः अनासक्त भाव से जीव और जगत की निष्काम सेवा करना। इस प्रकार भगवान् का प्रत्यक्ष लीला काल है, प्रकट काल है, तब भगवान् की सेवा के साथ-साथ जीव-जगत की तथा जहाँ-जहाँ सज्जन शक्ति कार्यरत है उनकी सेवा करना उनका सहयोगी बनना। और जब प्रभु का प्रकट लीला काल नहीं है, तब अपने जीवन का विनियोग धर्म की प्रतिष्ठा, न्याय की प्रतिष्ठा और अधर्म के नाश में तथा ज्ञान, ध्यान, भक्ति से निष्काम सेवा की स्थापना करना, देश में कार्यरत सज्जन शक्तियों का सहयोगी बनना, अपने जीवन को शुद्ध-निष्कलंक रखना आदि।

किन्तु आजकल भक्ति को मात्र शाब्दिक स्तुतिगान के अर्थ में लिया जाता है जिसमें सेवा का भाव नहीं है। ऐसे मौखिक स्तुतिगान से भज (सेवा) बिल्कुल भिन्न है। यदि एक पुत्र पिता की भरपूर सेवा करे और दूसरा मात्र शाब्दिक स्तुतिगान करता रहे तो निश्चय ही सेवा करने वाले की भक्ति सार्थक होगी और मौखिक स्तुतिगान मात्र करके पिता की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति घृणा एवं तिरस्कार का पात्र होगा।

नाम जप की अपार महिमा है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लोग विस्मय करते हैं कि रामायण काल में राम का नाम लिखने मात्र से पत्थर कैसे तैरे होंगे! पर पत्थर तैरने की बात तो दूर हमने राम-नाम के प्रताप से इंसान तरते देखे हैं। एक दस्यु का निन्दनीय जीवन बिताने वाला रत्नाकर डाकू नारद मुनि से पूछता है, महाराज! मैंने अनेकों का धन और अनेकों का प्राण हरण किया है, अनेक ब्रह्महत्या का पाप मुझे लगा है। क्या मेरे उद्धार का भी कोई मार्ग है?

नारद ने कहा—हाँ है। राम नाम सकल पापों का नाश करने वाला है। उसी राम नाम के प्रताप से ही पापपंक में लिप्त रत्नाकर डाकू महर्षि वाल्मीकि बनकर लोक में पूजित हुए। अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रेम में अन्धे हुए एक कामांध युवक को किसी ने अगर जनगण-पूजित गोस्वामी तुलसीदास बनाया तो वह पवित्र राम-नाम ही था। आधुनिक काल में एक आचार भ्रष्ट वैश्य बालक गाँधी यदि महात्मा बनकर विश्वविख्यात हुआ तो राम नाम के बल से ही। स्वयं उसी लंगोटी वाले महात्मा की स्वीकारोक्ति है, राम नाम में वह शक्ति है जो बड़ी से बड़ी सेना में नहीं है। भयंकर अस्त्र-शस्त्रों में नहीं है। इसी राम-नाम के प्रताप से उन महात्मा ने अपने मरते हुए बच्चे रामदास को मृत्यु के मुख में जाने से बचा लिया। अपने आधार पर राम-नाम का प्रभाव बयान करते हुए वे सत्यसेवी संत कहते हैं—यदि मेरे पास राम नाम का आश्रय न होता तो सम्भवतः मैं अपने जीवन में दो महिलाओं को अपनी बहन कहने योग्य न रहता।

यह सत्य है कि राम नाम ने अनेकानेक इंसान तारे हैं। जो सबसे अधिक चरित्र भ्रष्ट थे, उन्हें सर्वथा पूज्य पुरुष बनाया है। यह राम नाम का अद्‌भुत प्रताप है। इस महान् राम नाम के जादू ने हमें हजारों वर्षों तक जीवन एवं जागृति शक्ति एवं शील कर्म तथा धर्म का आलोक पथ दिखलाया है।

राम नाम के प्रभाव को समझने के लिये महर्षि वाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास एवं महात्मा गाँधी के प्रत्यक्ष जीवन की साक्षी बहुत पर्याप्त है।

अतः नाम जप का महत्त्व अवश्य है। पर नाम जप के साथ-साथ उनके गुण, कर्म, चरित्र और आदर्श भी साथ-साथ स्मरण में आने चाहिये। यह बात हम राम

नाम के प्रताप से रत्नाकर डाकू से महर्षि वाल्मीकि बनने वाले में पाते हैं। राम नाम के साथ-साथ राम के गुण, कर्म, स्वभाव, चरित्र और आदर्श परिलक्षित होता है और उसके लिये शेष सारा जीवन समर्पित होता है।

तुलसीदासजी ने छह मुसलिम शासकों का शासन देखा और उनके अत्याचार भी। अकबर ने साम-दाम-दण्ड भेद से अधिकांश राजपूत वीरों को फुसला रखा था—वे अपनी बहन-बेटियों को मुगल शासकों के हरम में भेज रहे थे और दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो कहने में अपने जीवन की सार्थकता समझ रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति में हिन्दू समाज में जागृति लाने एवं राम राज्य का आदर्श प्रस्तुत करने के लिये न केवल रामायण की रचना की वरन् उन्होंने स्थान-स्थान पर अखाड़े स्थापित किये। जब हल्दीघाटी के युद्ध में मानसिंह ने राणा प्रताप द्वारा अपमानित होकर एक बड़ी सेना लेकर राणा प्रताप के सर्वनाश की प्रतिज्ञा की तो उसे तुलसीदास ने अपने पास बुलाकर उससे विरत किया। अकबर की राजनीति से उपराम कराकर प्रायश्चित्त स्वरूप तीर्थयात्रा करने और हरकी पैड़ी में अपनी छतरी बनाने का आदेश दिया जो आज भी वहाँ विद्यमान है।

एक बार कविवर रहीम ने गोस्वामी तुलसीदासजी से पूछा—

काज करे संसार के मिलन चाहत करतार
कहो रहीम कैसे निभे दो रथ एक सवार

गोस्वामीजी ने उत्तर दिया—

काज करे संसार के प्रभु पर राखे टेक
तुलसी यों निभ जायेंगे दो घोड़े रथ एक।

एक सुभाषित है—

कर से काज करो विधि नाना, मन राखो जहाँ प्रभु निधाना।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को यही सन्देश दिया—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मरेत युद्ध च्।

सामान्य व्यक्ति अपनी स्वाभाविक कठिनाई बता सकता है कि यदि भगवान् का स्मरण करेंगे तो युद्ध जैसा भीषण कर्म कैसे कर सकते हैं। भगवान् का स्मरण तो शान्त चित्त से हो सकता है। युद्ध क्रोध व आवेश में हो सकता है। दोनों का मेल कैसे बैठाया जाए। गीता की यही विशेषता है कि इतने सर्वोच्च ज्ञान को सबसे कठिन कर्म के साथ मेल मात्र का सिद्धान्त कथन ही नहीं किया वरन् प्रत्यक्ष इतिहास में उसका सफल ढंग से प्रयोग करके दिखा दिया। गीता की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें ऊँचे से ऊँचे ब्रह्मज्ञान को जीवन के भीषण से भीषण

कर्तव्य कर्म (महायुद्ध) के साथ समन्वित कर दिखा दिया। प्रारम्भ में अर्जुन क्रोध एवं द्वेष से भरकर युद्ध भूमि में प्रविष्ट हुआ था। प्रारम्भ में उसने कहा—भगवान् मुझे शक्ल तो दिखलाओ कौन माई के लाल मेरे से लड़ने आये हैं। जब उसने देखा कि अपने ही स्वजन और गुरुजन सामने शत्रु की पंक्ति में खड़े हैं, तब उसके मन में मोह, राग और भय उत्पन्न हो गया। तब हथियार फेंककर युद्ध भूमि से भागने का विचार करने लगा, मुझे तो अरण्य में जाकर भगवद् भजन करना है, भिक्षाटन के द्वारा जीवन यापन करना है। भगवान् ने कहा, अर्जुन! न हम तुम्हें द्वेष से मारने देंगे और न राग के कारण भागने देंगे। शुद्ध कर्तव्य भावना से प्रभु को स्मरण करते हुए प्रभु के फूल प्रभु के चरणों में चढ़ाने के लिये स्वधर्म पालन में महायुद्ध लड़ो। यह बहुत क्रियात्मक जीवन-दर्शन है। ईश्वर को भुलाकर युद्ध सत्य रूप न रहकर केवल नृशंस सर्वसंहार बन जाएगा। कर्म से भागकर केवल ईश्वर के स्मरण की माला जपते रहने से यह नैतिकता विरोधी ढोंग हो जाएगा।

अब देखें भक्तों में शिरोमणि हनुमानजी हैं। वे केवल राम नाम तक सीमित नहीं है। वे राम कार्य करने और करवाने दोनों में निपुण हैं। वे सुग्रीव का भय दूरकर प्रभु राम से जोड़ते हैं और उसे राम कार्य में नियुक्त करते हैं। विभीषण के महल में राम-नाम लिखा है, स्वयं उनके मुख से राम नाम का उच्चारण सुनकर वे विभीषण से परिचय करते हैं फिर विभीषण को प्रबोधित करते हैं। स्वयं राम संकट में हैं, उनका आदर्श संकट में है अतः केवल राम नाम कहने से, राम नाम की चादर ओढ़ लेने से कार्य पूरा नहीं होता। राम-नाम के साथ उनके गुण और कार्य, उनकी सेवा का भी योग होना चाहिये। तभी राम नाम लेना सार्थक होगा। विभीषण से उन्हें सीता माता का पता चलता है, विभीषण के कारण ही लंका दहन में समर्थ होते हैं। विभीषण के सहयोग से ही प्रभु राम रावण वध में समर्थ होते हैं।

रामायण में सुतीक्ष्ण का भी नाम आता है जो केवल राम-नाम में ही रत रहे, राम कार्य में अपना विनियोग नहीं किया। अतः वे आदर्श चरित्र के रूप में उभरकर नहीं आते और न रामकथा में उनकी एकाध स्थान छोड़कर कहीं कोई चर्चा ही है। समर्थ स्वामी रामदासजी राम के बड़े भक्त हुए हैं। उन्होंने अपना नाम नारायण से रामदास रख लिया। वे भी राम नाम तक सीमित नहीं हैं। समर्थ रामदासजी ने भी ग्राम-ग्राम में अखाड़े स्थापित किये। पूरे भारत में सात सौ अखाड़े स्थापित कर एक सशक्त संगठन तन्त्र खड़ा किया। 27 सन्त इस कार्य में लगे। अखाड़े के साथ-साथ रामकथा भी गाँव-गाँव पहुँची। ये अखाड़े ही शिवाजी की सैन्य शक्ति का आधार बने। इन मन्दिरों में भगवान् राम तथा हनुमानजी की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी तथा प्रतिदिन वहाँ नवयुवक एकत्र होकर अखाड़े में मलखम्भ, कुश्ती, व्यायाम आदि करते थे। जब शिवाजी महाराज आगरा से औरंगजेब की

कैद से निकल भागे तब इन्हीं मठ-मन्दिरों के सहयोग से वे सुरक्षित अपने गृह क्षेत्र तक पहुँच सके थे।

भगवत् नाम जप के साथ-साथ भगवत् कार्य की प्रेरणा गुरु गोविन्दसिंह ने बंदा बैरागी को दी थी जब उनके चारों वीर पुत्र एवं अनेक सैनिक धर्म कार्य में संघर्ष करते-करते बलिदान हो गये। तब उन्होंने दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया ताकि शिवाजी से मिलकर, हिन्दू राज्य, धर्म राज्य की स्थापना कर सकें। रास्ते में बंदा बैरागी से भेंट होती है। गुरु गोविन्दसिंह दक्षिण में माला जपने वाले बंदा बैरागी को कर्तव्य बोध देते हुए कहते हैं—

धन्य जीबो तिह को जो मुखते हरि चित्त में युद्ध विचारे।

अर्थात् जीवन उसी का धन्य है जो मुख से हरि का स्मरण करते हुए, चित्त में संसार के कर्तव्य संग्राम के लिये सदा प्रस्तुत रहे। गुरु गोविन्दसिंहजी की प्रेरणा से बंदा बैरागी ने कैसा दुर्धर्ष संघर्ष किया मुगल सल्तनत के विरुद्ध यह हम सब जानते हैं।

साक्षात् प्रेम और करुणा के अवतार चैतन्य महाप्रभु ने भी नगर संकीर्तन में बाधक काजी जगाई-माधो के विरुद्ध शक्ति प्रदर्शन किया रात्रि के समय जलती मशाल लेकर। जुलूस में मार-काजी काट काजी के नारे लगवाये और उसका घेराव किया। सुदर्शन चक्र का आह्वान किया तब जाकर काजी की बुद्धि ठिकाने पर आयी और शरणापन्न हुआ।

स्पष्ट है—रामायण, गीता और हमारे आचार्य व महापुरुष—सब ही अपने-अपने स्वधर्म का, कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए ही भगवद् नाम स्मरण, भजन करने का उपदेश देते हैं। ऐसा ही स्वयं का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

केवल भजन, कीर्तन, गान, देवता को अक्षत चढ़ाना या करताल बजाना अथवा नाम रट लगाने मात्र को भक्ति नहीं माना जा सकता। ये सब भक्ति के सहायक साधन हैं, भक्ति के पर्याय नहीं हैं। भगवान का नाम जपते हुए हमारा भगवान् की सन्तति नर-नारायण की सेवा करना ही वास्तविक भक्ति है। जिसका यश गाया जाए उसकी सेवा करना भी स्वाभाविक है। यही बात भक्तों के जीवन में पाते हैं। शबरी की भक्ति सेवा के रूप में थी। केवट की भक्ति राम के सेवक के रूप में थी। गिद्धराज की भक्ति और हनुमान, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, विभीषण, वनवासी बंदर-भालू जामवंत, सुग्रीव आदि सभी की भक्ति सेवा मूलक, कर्म मूलक थी।

पर पता नहीं कब से कहाँ से यह बात हमारे मन में विशेषकर मध्ययुग में बैठ गयी कि भगवान् ही सर्व समर्थ हैं, हम तो अल्पज्ञ व अल्प शक्तिमान हैं। हम

भला क्या कर सकते हैं? हम तो बस भगवान् का नाम कीर्तन ही कर सकते हैं। कोई दुष्टता कर रहा है तो उसको दण्डित करने का काम भगवान् का है। उसका जब पाप का घड़ा भरेगा तो भगवान् स्वयं अवतार लेकर उसे दण्डित करेंगे। इस प्रकार हम छोटे अपराधी को अपनी निष्क्रियता और उपेक्षा से बड़ा अपराधी, डॉन बना देते हैं, नासूर बना देते हैं। पर हम अच्छी तरह जानते हैं कि जब भगवान् राम व कृष्ण स्वयं अवतार लेकर आये तो उन्होंने समाज की सज्जन शक्ति को संगठित कर उनके सहारे ही दुष्टों का दलन किया। प्रभु राम ने वनवासी बंधु और बन्दर-भालुओं को संघबद्ध कर रावण का प्रतिकार कर उसका समूल नाश कर देश और धरती को उसके त्रास से मुक्त किया। यही कार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने यादवों को संगठित कर दुष्टों का दलन किया, पाण्डवों को संगठित कर कौरवों का नाश कर पुनः धर्म राज्य की स्थापना की। यही बात हम देवों के साथ पाते हैं, देव शक्ति जब माँ दुर्गा के रूप में संघबद्ध होती है, तभी असुरों का संहार करने में समर्थ होती है।

यही बात हम महापुरुषों और आचार्यों में पाते हैं, उन्होंने भी समाज को संघबद्ध कर स्वधर्म पालन द्वारा देश व समाज की रक्षा की। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को आगे कर सिकन्दर एवं सेल्यूकस को निरस्त कर ग्रीक आक्रान्ताओं से देश की रक्षा की। ऋषि पतंजलि ध्यान-धारण करते ही नहीं बैठे रहे विदेशी आक्रान्ताओं को देश से निकाल बाहर करने वाले सेनापति पुष्यमित्र का सहयोग किया, मार्ग दर्शन किया। उसके राजपुरोहित बने। आद्य शंकराचार्य भगवान् का गुणगान करते हुए बैठे नहीं रहे वरन् विकृति को प्राप्त बौद्धों को निरस्त कर वैदिक शासन को पुनः स्थापित किया। विद्यारण्यक स्वामी ने हरिहर और बुक्क को आगे करके हिन्दू समाज को ऐक्यबद्ध कर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। समर्थ स्वामी रामदासजी ने शिवाजी को आगे कर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। प्राणनाथ स्वामी ने छत्रसाल को आगे कर बुन्देलखण्ड की स्थापना की। इसी तरह रामानुजाचार्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य केवल भगवत् गुणगान करते नहीं बैठे रहे वरन् समाज को ऐक्यबद्ध कर मुसलिम आक्रान्ताओं से देश की रक्षा की।

हाँ, यह ठीक है कि हम सब सेनापति का दायित्व नहीं निभा सकते पर एक सैनिक की भूमिका तो निभा ही सकते हैं। गिलहरी से तो प्रेरणा ले ही सकते हैं जो अपने सामर्थ्य के अनुसार राम-कार्य भगवद् कार्य में सहयोग देती है और भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करती है।

इस प्रकार भक्ति का अर्थ नाम जप, नाम स्मरण भजन-कीर्तन ही नहीं उसके साथ सेवा का योग होना चाहिये। यद्यपि गीता में भगवान् ने कर्मयोग भक्तियोग और ज्ञानयोग की चर्चा की है। पर गीता में भगवान् ने दो प्रकार की निष्ठा का

वर्णन किया है। सांख्य निष्ठा अर्थात् ज्ञानयोग निष्ठा और योग निष्ठा अर्थात् कर्मयोग निष्ठा। उन्होंने भक्ति की निष्ठा की चर्चा नहीं की क्योंकि भक्ति मूलतः सेवा कर्म होने के कारण कर्मयोग निष्ठा के अन्तर्गत आ जाती है। मातृ-पितृ भक्ति, गुरु भक्ति, समाज भक्ति, देश भक्ति, सिद्धान्त भक्ति आदि ईश्वर भक्ति की ही क्रमिक सीढ़ियाँ हैं।

भक्तियोग के सभी अधिकारी

इसमें योग्यता का प्रश्न ही नहीं जैसे कि ज्ञानयोग में शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा यानी षड सम्पत्ति आवश्यक है। एक वैष्णव भक्त कहता है व्याध के आचरण में क्या विशेषता थी, ध्रुव जी की उम्र ही क्या थी, गज का ज्ञान कितना था? कुब्जा की सुन्दरता ही क्या थी, यादव सम्राट उग्रसेन का पराक्रम ही क्या था? सुदामा के पास सम्पत्ति ही क्या थी? विदुर का जन्म कैसा था? फिर भी माधव ने इन सब पर कृपा की। इस प्रकार 'भक्ति' भेदभाव को नहीं जानती। यह तो भेद में अभेद की सृष्टि करती है। 'भक्ति' को रूप, कुल गोत्र, धन, जाति, वर्ग, भाषा, शिक्षा प्रान्त तथा पद आदि के सभी भेद अमान्य हैं। 'भक्ति' सभी प्रकार की हीनता तथा श्रेष्ठता के विरुद्ध है। भक्ति जोड़ती है सबको। भक्ति की मूल प्रवृत्ति प्रेम, विनम्रता, सरलता, एकता और सामञ्जस्य की है। प्रभु की भक्ति का अर्थ है मनुष्य से प्रेम करना तथा प्रभु की समस्त सृष्टि से प्रेम करना। हृदय का प्रेम तथा ईश्वर के प्रति समर्पण ही इसका मूल मंत्र है। इसलिए भक्तिभाव से कोई भी प्रान्त, जाति या वर्ग उससे अछूता नहीं रह सकता था इसलिये हिन्दू समाज की सभी जातियां–यथा महार, कुम्हार, छीपी, माली, धुनिया, चर्मकार, धोबी, कोरी, जुलाहा, सुनार, तेली, क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण आदि में जन्मे हजारों संत और मुस्लिम भक्त भी भक्तिभाव से आगे आये और समाज में उन्हें व्यापक सम्मान भी प्राप्त हुआ। देश भर में हजारों वर्षों से भक्ति की एक लम्बी परम्परा चली आ रही है। इसमें सभी जातियों के, सभी वर्णों के, सभी वर्गों के तथा सभी भाषा-भाषी लोग आते हैं। नायन्मार, आलवार, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, नरसी मेहता, कबीर, रैदास, तुलसीदास, रसखान, शंकरदेव, चैतन्य महाप्रभु, मीरा बाई, सूरदास, ज्ञानेश्वर, नानक, तुकाराम, बसवेश्वर, पुरन्दास, कम्बन तथा पंचसखाओं आदि संतों की शृंखला अखण्ड है। भक्तिभाव में डूबे इन महान भक्तों ने भक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित की जिसमें जाति का कोई स्थान नहीं था। तभी तो मीरा भक्तिभाव में रैदास (चर्मकार) की शिष्या हो गयी और रसखान (मुसलमान होकर भी) कृष्ण की अनन्य भक्ति में लीन रहे? अनेक आलवार एवं नायन्मार तथाकथित पिछड़ी और निम्न कही जाने वाली जातियों से थे। ईश्वर भक्ति के कारण पूज्य बन गये। व्यासजी भागवत में कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा, आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रमविष्णेव नमः।।

श्रीमद्‌भागवत्, 2-4-18

अर्थात् 'उस सर्वशक्तिमान प्रभु को नमस्कार है जिनके भक्तों के भी भक्तों के आश्रय में आने से किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस इत्यादि और अन्य पापी भी पवित्र हो जाते हैं।

भक्ति से ही व्यक्ति का स्थान ऊँचा हो जाता है। 'बृहन्नारदीय' में विष्णु भक्त चाण्डाल को ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा भक्ति विहीन ब्राह्मण को चाण्डालाधिप कहा गया है :

चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः।।

भक्ति काव्य में रहस्यवाद पृ. 264

काशी के स्वामी रामानन्द ने घोषणा कर दी कि हरि का भजन करने का अधिकार सभी का है :

जात-पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।।

इसलिए गीता के 9वें अध्याय में इस प्रकार खुद भगवान ने भक्ति को राजमार्ग (आम मार्ग) बताया है जिसमें सभी अधिकृत हैं। प्रभु सबके अन्तर के भाव को देखते हैं। फिर इस बात को ध्यान में रखें Every saint had past every sinner has future इस प्रकार भक्ति माता के तुल्य है जहाँ शुद्ध-अशुद्ध का विचार नहीं है। ज्ञान पिता के तुल्य है जो अशुद्ध को नहीं स्वीकारता। गन्दे पुत्र को पिता नहीं स्वीकारता। उसकी माँ को आवाज देता है। और जब वह शुद्ध करके लाती है, तभी वह स्वीकारता है।

भक्तियोग में आदि मध्य और अन्त प्रेम से परिपूर्ण है। प्रेम से ही प्रारम्भ होता है—मध्यकाल में प्रेम और अन्तिम परिणीति भी प्रेम में। क्योंकि भक्त मुक्ति तो चाहता नहीं। वह तो जन्म-जन्म राम के चरणों में, प्रभु के चरणों में, प्रभु प्रेम का आस्वादन करना चाहता है।

तुलसी रामायण में भरतजी कहते हैं—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहऊँ निर्वान।
जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन।

श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

न धनं, न जनं, न सुन्दरीं वा न कवितां वा,
जगदीश कामये मम जन्म-जन्मनि।

हे जगदीश! न मुझे धन चाहिये, न जन न सुन्दरी और न कविता चाहिये। जन्म-जन्म में मेरी आपके प्रति अहेतुकी भक्ति बनी रहे बस यही माँगता हूँ।

ईश्वर प्रेम एक बार लग जाता है तो वह कभी भूलता नहीं। न विस्मृत होता है, न विकारी होता है, न स्वार्थी और न व्यवसायी। वह सदा एकरस और वृद्धि पाने वाला है। पर सांसारिक प्रेम में जितना-जितना एक-दूसरे के निकट आता जाता है उतना ही प्रेम घटता जाता है। पर प्रभु और भक्त में जितना-जितना एक-दूसरे के निकट सम्पर्क होता जाता है, उतना ही प्रेम बढ़ता जाता है। सांसारिक प्रेम स्वार्थ के कारण होता है, पुत्र-पुत्र के लिये प्रिय नहीं, अपने लिये प्रिय है। पत्नी-पत्नी के लिये प्रिय नहीं, अपने लिये प्रिय होती है, भाई-भाई के लिये प्रिय नहीं.... मित्र-मित्र के लिये प्रिय नहीं, अपने लिए प्रिय होते है, नहीं तो सुग्रीव नहीं कहता बाली मेरा भाई नहीं काल है। प्रह्लाद पिता को शत्रु नहीं लगता। सांसारिक प्रेम में स्वार्थ भाव प्रधान होता है, वहाँ ईश्वर प्रेम में वासना या स्वार्थ का बीज भी नष्ट हो जाता है। भगवान्-भगवान् के लिये प्रिय होता है। पर सांसारिक प्रेम में स्वार्थ भाव प्रधान होता है। स्वामी रामतीर्थ इस सन्दर्भ में एक कथा कहते हैं कि एक घर में आग लग गई। सभी निकल गये पर एक बच्चा अन्दर रह गया। तब पिता चिल्ला-चिल्लाकर कहता है कि जो मेरे बच्चे को बचा लेगा उसे सारी सम्पत्ति दे दूँगा पर स्वयं साहस नहीं करता। क्योंकि उसे स्वयं अपना प्राण प्रिय है।

सांसारिक प्रेम अनित्य होता है। कुछ प्रेम स्वार्थ के कारण होता है और जब स्वार्थ सध जाता है तब प्रेम समाप्त हो जाता है। कुछ प्रेम कामभावना के कारण, कुछ प्रेम धन के लिये, कुछ प्रेम कुछ समयविशेष के लिये होता है, बाद में भूल जाते हैं। बहुत याद दिलाने पर कुछ-कुछ याद भले ही आये।

संसार में प्रेम ममता के कारण होता है—माता-पिता, पुत्र-पत्नी, भाई-बहिन के प्रति भक्ति ममता के कारण है, और ये सब अपने अनुकूल रहने तक रहती है, मन बदल जाने पर कभी-कभी भय भी उत्पन्न कर देता है, प्राणों का प्यासा तक हो जाता है।

गीता में तीन योगों की चर्चा है। प्रथम षटक में मुख्यतः कर्मयोग की चर्चा है। द्वितीय षटक अर्थात् सातवें अध्याय से 12वें अध्याय तक मुख्यतः भक्तियोग की चर्चा है। तृतीय षटक अर्थात् 13वें से 17वें अध्याय में मुख्यतः ज्ञान योग की चर्चा है। 18वाँ अध्याय सम्पूर्ण गीता का सार, निचोड़ है। उपसंहार है।

प्रथम अध्याय में अर्जुन का रुदन है, स्वधर्म से पलायन का भाव है। द्वितीय अध्याय में अर्जुन की शरणागति तब भगवान का उपदेश प्रारम्भ—इस अध्याय में आत्मा की अमरता एवं कर्मयोग का बीज है। और आदर्श पुरुष के लक्षण हैं। तृतीय अध्याय में कर्मयोग का महत्त्व है। चतुर्थ में कर्म और ज्ञान से त्याग का समन्वय है। पाँचवें में कर्म और ज्ञान (सांख्य और योग) दोनों की सिद्धावस्था में एकता साधनावस्था में कर्मयोग की अधिक उपादेयता का वर्णन है।

गीता का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को निष्काम कर्मयोग में लगाना है। उसके लिये भक्ति और ज्ञान आदर्श कर्मयोग की तैयारी हेतु आवश्यक हैं। अध्याय 6 से 9 तक अव्यक्त (निराकार) की उपासना ध्यान योग द्वारा तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति के द्वारा दर्शायी गयी है। दशम अध्याय से द्वादश अध्याय तक व्यक्त की उपासना अर्थात् सगुण भक्ति का निरूपण है। दशम में सर्वत्र ईश्वर दर्शन, एकादश में एकत्र और द्वादश में भक्ति का पूर्ण परिपाक दर्शाया गया है। जिस निर्गुण की उपासना करते हैं, ध्यान द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा उसी को सगुण रूप में सर्वत्र देखते हैं। उसी विश्व रूप (विराट रूप) में एकत्र देखते हैं। दिव्य दृष्टि से निराकार को साकार देखकर भक्त कर्म किस प्रकार से करे यह द्वादश अध्याय में बताया गया। तैयारी कर्मयोग की इसकी मनोभूमिका तैयार करने के लिये भक्तियोग उसे 7 से 12 अध्याय तक। 13 से 17 अध्याय तक ज्ञान योग की चर्चा विस्तार से है। आदर्श कर्मयोगी को तत्त्व से भटकना नहीं चाहिये इसलिये ज्ञान योग। 18वाँ अध्याय उपसंहार है, निष्कर्ष है। प्रयोजन की सिद्धि है कि अर्जुन का मोह-भय दूर हो गया है, अब वह कर्तव्य कर्म के लिये, स्वधर्म पालन के लिये, भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश मानने के लिये तत्पर है, प्रस्तुत है।

गीता भगवान् का हृदय है। स्वयं भगवान् कहते हैं—गीता मे हृदयम् पार्थ। अर्थात् हे पार्थ। गीता तो मेरा हृदय है। गीता का हृदय है द्वादश अध्याय। भक्ति हृदय की वस्तु है। मानव शरीर में हृदय शरीर के नीचे से दो-तिहाई भाग की ऊँचाई पर और सिर से एक-तिहाई भाग नीचे स्थित है। गीता के 18 अध्यायों में दो-तिहाई (12 अध्याय तक) एक ओर एक-तिहाई भाग दूसरी ओर अर्थात् 12वें अध्याय में ही भक्तियोग का स्थान है, यह गीता के कलेवर का भी हृदय है और गीता के तत्त्व का भी।

द्वादश अध्याय का प्रारम्भ ही अर्जुन की जिज्ञासा से होता है। वहां प्रथम में ही अर्जुन यही प्रश्न उपस्थित करता है कि भगवन् व्यक्त की, सगुण की भक्ति श्रेष्ठ है या निर्गुण की, अव्यक्त की भक्ति।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।। 12/1

इस प्रकार सततयुक्त होकर (अर्थात् निरन्तर तुममें लगे रहकर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं, और दूसरे हैं, जो अव्यक्त अक्षर की (उपासना करते हैं—) इन दोनों में श्रेष्ठ योग वेत्ता कौन है?

'एवं' इस प्रकार। किस प्रकार? जिस प्रकार 11वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में बताया गया—मत्कर्मकृन्मत्परमो' मेरे लिये कर्म कर और मुझे परम आश्रय जानकर मेरे परायण हो। इस प्रकार जो आप से सततयुक्त है। सतत माने सर्वदा, सर्वकाल में, लगातार बिना किसी विच्छेद के, बिना किसी खंड के। परमात्मा के साथ जिनका मन सदा लगा ही रहता है। इस प्रकार जो तुझसे लगातार युक्त रहता है, अति श्रेष्ठ भाव से आपकी उपासना करते हैं। हमारे मन में प्रश्न उठ सकता है क्या यह सम्भव है कि सब समय हम परमात्मा से युक्त भी रहें और संसार का काम भी करते रहें? यह सम्भव है। जैसे ग्राम की स्त्रियाँ अपनी सहेलियों के साथ सरोवर-नदी पर गागरी में जल भरने जाती है। जल भरती हैं, माथे पर गागरी रखती हैं, बातचीत करते हुए चली आती है। सारा काम करती हैं लेकिन गागरी गिर जाती है क्या? गगरी तो नहीं गिरती। ठीक उनके माथे पर रहती है। दुनिया का काम भी करती है, गगरी का भी खयाल रखती है। सब समय गगरी का खयाल रखती हैं, अगर गगरी का खयाल बीच-बीच में छोड़ दें तो गगरी गिर पड़ेगी। तो जिस प्रकार नारी का मन सब समय गगरी में लगा रहता है और दुनिया के काम भी करती रहती है ऐसे ही अपना जो कर्तव्य कर्म है उसको करते हुए भी भगवान् से मन जोड़ा जा सकता है। सगुण-साकार भगवान् की उपासना करता है। उपासना का शब्दार्थ है—उप का अर्थ है निकट, आसना का अर्थ बैठ जाना। उपासना का मतलब हुआ जिसकी हम पूजा करते हैं, ध्यान करते हैं उसके पास बैठ जाएं। हम अपने चित को उपास्य में लगा दें। उपास्य में अपना चित लगा दें, उसके पास जाकर बैठ जाएं, लगातार प्रभु का चिन्तन करते रहें, प्रेमपूर्वक उनका अनुध्यान करते रहें। मन जहाँ है मनुष्य की स्थिति भी वहीं है। मां का मन शिशु में बैठा रहता है। मां जो भी काम करती रहे पर शिशु मन में बैठे रहने से थोड़ा भी चीं-चपड़ करता है, मां तुरन्त सुन लेती है। यद्यपि मां गहरी निद्रा में है। बाहर घमासान वर्षा है, बादल है, बिजली कड़क रही है, फिर भी मां की नींद नहीं टूटती। पर बच्चा थोड़ा भी चीं-चपड़ करता है, तो मां की नींद खुल जाती है। तो मन में पति बच्चा बसा है तो उसकी वही स्थिति होती है। और मन में भगवान् बसे हैं तो मनुष्य की स्थिति भगवान् में है। तो मन में जो स्थित होता है मनुष्य की भी वही स्थिति वही होती है। मन जहां जाता है हम वहीं चले जाते हैं। भले ही तन पूजा में लगा रहे, सत्संग में आये, क्लास में रहे पर मन के जाते ही हम भी उसके साथ प्रस्थान करते हैं कि नहीं? इस सन्दर्भ में एक सुन्दर बोध कथा है।

दो मित्र थे। एक बार शहर में एक बड़े महात्मा के आगमन पर सत्संग का आयोजन हुआ। मित्र ने दूसरे मित्र से अपने साथ सत्संग में चलने को कहा। पर उसने कहा, मेरा पहले से ही बाईजी से गीत सुनने का समय तय है। फलतः दूसरा मित्र बाईजी के यहाँ चला गया। पर उसका मन बराबर सत्संग में जाता रहा कि कितने अच्छे सन्त आये हैं मुझे अपने मित्र के साथ ही जाना चाहिये था। और उधर उसका मित्र बराबर सोचता रहा, मेरा मित्र बाईजी के यहाँ आनन्द ले रहा है और मैं कहाँ शुष्क सत्संग में आ गया। अब जो सत्संग सुनने आया था उसे पाप लगा और जो बाईजी के पास गया उसे पुण्य प्राप्त हुआ क्योंकि भगवान् ने माना जिनका मन जहाँ वहीं उनकी अवस्थिति मानी और उसी के अनुसार फल की प्राप्ति हुई।

अतः मन जहाँ है वहीं मनुज है। इसलिये पर्युपासते का माने मन की, निरन्तर धारावाहिक चिन्तन के द्वारा तेल धारावत् अविच्छिन्न चिन्तन परम्परा चले। जैसे तेल गिराया जाए तो धारा अटूट रूप से बहती रहती है वैसे ही हमारी वृत्तियाँ अटूट रूप से अपने उपास्य की ओर लगीं रहे। तो जो इष्ट की उपासना करते हैं, उनके पास मानसिक रूप से बैठे रहते हैं उनसे तन्मय होते हैं। 'त्वाम पर्युपासते' आपके सगुण रूप परमेश्वर की उपासना करते हैं। तो यहाँ सगुण-साकार परमेश्वर के किस रूप की उपासना करता है इसमें आचार्यों में मतभेद हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं, इसके ठीक पूर्व भगवान् ने अपना विराट् रूप दिखाया, उसकी फलश्रुति बतायी अतः भगवान् कृष्ण के विराट रूप का ध्यान करता है। रामानुजाचार्यजी कहते हैं, अर्जुन भगवान् के विराट रूप को देखकर डर गया अतः उस रूप की कैसे उपासना कर सकता है? अर्जुन की प्रार्थना पर भगवान् ने अपना चतुर्भुज रूप दिखाया। चतुर्भुज नारायण है अतः नारायण की उपासना करता है। गौड़ीय सम्प्रदाय के सन्त कहते हैं, चतुर्भुज रूप के पश्चात् द्विभुजधारी कृष्ण रूप में दर्शन दिया अतः द्विभुजधारी भगवान् कृष्ण रूप की उपासना करता है। वस्तुतः, सहस्र भुज विराट रूप की उपासना करे या चतुर्भुज रूप नारायण की या द्विभुजधारी भगवान् कृष्ण के रूप का ध्यान करे—बात एक ही है कि वह सगुण-साकार भगवान् से जुड़ा हुआ है।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।

और जो अक्षर अव्यक्त के प्रति समर्पित हैं। अव्यक्त माने जो अप्रकट है। जिसको कोई देख नहीं पाता। जो किसी भी प्रकार से—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँचों प्रकार से जिसका अनुभव नहीं होता। हवा दीखती तो नहीं पर स्पर्श से उसका हम अनुभव करते हैं। तो शब्द स्पर्श रूप रस गंध पाँचों प्रकार से यानी किसी भी प्रकार से जो ज्ञात नहीं होता वह अव्यक्त है। अक्षर का मतलब है जिसका कभी क्षरण नहीं होता। नाश नहीं होता। अविनाशी है।

तो भगवान की प्राप्ति के ये जो दो साधना-मार्ग हैं इनमें कौन श्रेष्ठ है, व्यक्त की या अव्यक्त की, सगुण-साकार की या निर्गुण निराकार का।

इसका उत्तर भगवान् बड़ी युक्ति से, कुशलता से देते हैं।

तो इस अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। अर्जुन के मन में यह प्रश्न इसलिये उठा क्योंकि भगवान् ने पहले अपने अव्यक्त रूप की स्थापना की फिर व्यक्त की प्रशंसा करने लगे।

भक्ति का सर्वप्रथम संकेत 2/61वें श्लोक में पुनः 3/30 में। छठे अध्याय से 9 वें अध्याय तक अव्यक्त की उपासना मुख्य रूप से प्रतिपादित की। 10वें से 12वें अध्याय में मुख्य रूप से व्यक्त की उपासना का प्रतिपादन किया है।

सातवें अध्याय में चार प्रकार के भक्त गिनाये हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें चारों को ही अपना भक्त स्वीकार है। पर ज्ञानी के विषय में कहते हैं–'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 7/18 ज्ञानी तो मेरा आत्मस्वरूप ही है। यह मेरा मत है। और यही तत्त्व भी है। फिर भगवान् ने 9वें अध्याय तक अव्यक्त की महिमा अधिक गाई।

मत्त परतरं नान्यत्किञ्चदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7

मेरे से परे कुछ भी नहीं है। सब मेरे में उसी प्रकार से पिरोये हुए हैं जिस प्रकार सुत में मणियां पिरोयी होती हैं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। 7/10

हे पार्थ! मैं सब भूतों का सनातन बीज हूँ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। 7/24

बुद्धिहीन पुरुष मुझ अव्यक्त को व्यक्ति रूप मानकर मेरे परमभाव को नहीं जानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः 7/25

मैं अपनी योग माया से छिपा हुआ सबको प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि भगवान् अव्यक्त हैं।

अक्षरं ब्रह्म परमं 8/3

परम अक्षर ब्रह्म है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म 8/13

ओम् एक अक्षर वाला ब्रह्म है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् 8/21

अव्यक्त अक्षर ही परम गति है।

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना। 9/4

मुझ अव्यक्त मूर्ति द्वारा सारा जगत व्याप्त है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। 9/10

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सारे चराचर (जगत) की रचना करती है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता य प्रभुरेव च। 9/24

मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ।

समोऽहं सर्वभूतेषु 9/29

मैं सब भूतों में सम हूँ।

दशम अध्याय में भगवान् अपनी विभूतियाँ गिनाते समय कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त विभूतियाँ गिनाते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः 10/20

मैं सब भूतों के हृदय मैं स्थित आत्मा हूँ।

गायत्री छन्दसामहम् 10/35

मैं छन्दों में गायत्री हूँ।

यहाँ अव्यक्त विभूतियों का वर्णन है।

किन्तु सूर्य, चन्द्र, हिमालय, गंगा, अर्जुन, वासुदेव, ऐरावत, प्रह्लाद, व्यास, कपिल, राम आदि व्यक्त विभूतियाँ हैं।

सृष्टि के अनेकत्व में तथा नानाविध रूपों में, जड़-चेतन में, मनुष्य-गन्धर्व में, असुर-राक्षस, देव, ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी, पर्वत, नदी, वृक्ष आदि सबमें ईश्वरीय विभूति फैली है, ऐसा भगवान् ने दर्शाया। तब अर्जुन के मन में जिज्ञासा हुई कि सर्वत्र प्रभु ही प्रभु का जैसा दर्शन हुआ वैसा ही एकत्र प्रभु का दर्शन हो सकता है क्या? सब में प्रभु अब प्रभु में सब दिखाइये। तब वह विराट रूप का दर्शन कर सके इसके लिये दिव्य दृष्टि देते हैं, फिर अपने विराट रूप में सारे चराचर जगत् का दर्शन कराते हैं। भगवान् के विराट रूप, विकराल रूप को देखकर अर्जुन चकरा जाता है, क्योंकि अनेक मुखों से अग्नि की ज्वालाएँ निकल रही हैं और आपके अनन्त फैले हुए मुखों से सभी कौरव वीर भस्म हो रहे हैं। इस

भयानक रूप को देखकर अर्जुन डर जाता है। पहले तो भगवान् ने सर्वत्र आत्मरूप से सबमें स्वयं को दिखाया था। यह तो बड़ा सौम्य रूप था। अब विराट रूप में, भयानक विकराल काल रूप को देखकर डर जाता है। दिव्य दृष्टि पाने के बाद भी भगवान् के तेज को सह नहीं पा रहा है। अर्जुन पूछता है, पहले तो आपने विभूतियोग में अपना प्रथम परिचय आत्मरूप में सौम्य रूप में दिया और अब इस विराट रूप में विकराल, काल रूप को देखकर भय लग रहा है। आप कौन हैं? मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूँ। अर्जुन की जिज्ञासा पर भगवान् बताते हैं, अर्जुन! मेरे दो रूप हैं—अन्तः प्रकृति में आत्मरूप से और बाह्य प्रकृति में कालरूप से। मैं आत्मरूप से अंतः (हृदय) पर शासन करता हूँ और काल रूप से बाह्य जगत पर। भक्तों को मैं आत्म-रूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूँ किन्तु अभक्तों को कालरूप से वश में रखता है। और काल बनकर मृत्यु चक्र में घुमाता हूँ। फिर भगवान् अपने विराट रूप की प्रशंसा करते हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण से चतुर्भुज रूप में आने की प्रार्थना करता है फिर भगवान् चतुर्भुज रूप में आते हैं तो भगवान् उसकी प्रशंसा करते हैं। फिर भगवान् द्विभुज रूप में आते हैं। अब अर्जुन के लिये समस्या हो गई। जब भगवान् ने अव्यक्त का प्रतिपादन किया तो उसकी प्रशंसा कर दी, फिर व्यक्त की, विराट रूप की, चतुर्भुज रूप की प्रशंसा कर दी। अब अर्जुन के लिये समस्या।

अर्जुन जब भगवान् के शरण में जाता है, समर्पित होता है तब स्पष्ट प्रार्थना की थी—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामित्वाम् धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7

कार्पण्य दोष से मेरा क्षत्रिय स्वभाव दब गया है। मेरा चित्त धर्म (कर्तव्य) के विषय में पूर्णतया मूढ़ हो गया है, मेरे लिये निश्चित, श्रेयष्कर कल्याणकारी मार्ग हो उसे द्विधाहीन शब्दों में बतायें जिसके दो अर्थ न निकलते हो।

जब भगवान् ने द्वितीय अध्याय में पहले तो आत्मतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करके स्वधर्म की महिमा और फिर कर्मयोग का प्रतिपादन किया फिर द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये जिसमें ब्रह्मज्ञान और ब्राह्मीस्थिति को सर्वोच्च बता दिया। तो यहाँ अर्जुन की बुद्धि भ्रमित हुई कि एक तरफ तो कर्मयोग का प्रतिपादन करते हैं और फिर ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताने लगते हैं। तब अर्जुन पुनः तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाता है कि आप मिली-जुली बातें कहकर मेरा मन मोहित क्यों करते हो। यदि ज्ञान मार्ग ही श्रेष्ठ है तो मुझे युद्ध जैसे भीषण कर्म में, जिसमें पूज्य गुरुजनों, पारिवारिक जनों का ही वध

करना पड़ेगा में क्यों लगाते हैं? मुझे तो एक निश्चित मेरे लिये श्रेयष्कर मार्ग ही बताएं। तब भगवान् कहते हैं ये दोनों ही निष्ठायें उपयोगी हैं पर तेरे लिये (अर्जुन जैसे प्रारम्भिक, मध्यम साधक के लिये) तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

फिर पुनः पंचम अध्याय में अर्जुन प्रथम में ही पूछता है—

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं य शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्। 5/1 गीता

हे कृष्ण! कभी आप संन्यास की बात करते हैं, कभी कर्मयोग की बात करते हैं। इन दोनों (विरोधी बातों) में कोई एक बात कहें। तब भगवान् कहते हैं—फल की दृष्टि से सिद्धिवस्था में दोनों समान हैं। साधनावस्था में निष्काम कर्मयोग अधिक सुगम एवं समाज के लिये अधिक उपयोगी है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते। 5/2 गीता

अब भगवान् के पुनः पहले अव्यक्त की प्रशंसा कर फिर व्यक्त-उपासना की बात कहने से अर्जुन पुनः भ्रमित हो गया।

गीता का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को निष्काम कर्मयोग में लगाना है। उसके लिये भक्ति और ज्ञान आदर्श कर्मयोगी की तैयारी हेतु आवश्यक है। कर्मयोग की तैयारी इसकी मनोभूमिका तैयार करने के लिये भक्तियोग अध्याय 7 से अध्याय 12 तक एवं अध्याय 13 से अध्याय 17 तक ज्ञानयोग की चर्चा विस्तार से है। आदर्श कर्मयोगी को तत्त्व से भटकना नहीं चाहिये इसलिये ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया है।

अब भगवान् के सामने समस्या

अर्जुन चूँकि एक बार मन बना चुका है युद्ध से पलायन करने के लिये, वह क्षत्रिय धर्म से च्युत होकर ब्राह्मण धर्म में स्थित होना चाहता है। जब एक बार कोई धारणा बन जाती है तो जल्दी छूटती नहीं है। अवसर आने पर वह धारणा पुनः-पुनः प्रकट हो जाती है। फिर लाक्षागृह काण्ड के समय एवं फिर ब्राह्मण की गो रक्षा हेतु व्रत तोड़ने के प्रसंग में 12 वर्ष के प्रायश्चित्त काल में ब्राह्मण वेश में घूम चुका है। पर अभी स्थिति भिन्न है। वह आपद्काल था। अब सामान्य काल है। अभी वह मोह और भय से ग्रसित है। यद्यपि भय की निवृत्ति तो विराट रूप दर्शन के समय हो चुकी है। अब उसकी विजय सुनिश्चित है। उसे पहले भय था भीष्म और द्रोण से टकराना उन पर विजय पाना उसके वश में नहीं है—यह स्पष्ट। न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः (2/6)। फिर हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये श्रेयष्कर क्या है, हम जीत लें या वे हमें जीत लें। पर भगवान् के विराट रूप में देख चुका है ये अपने-अपने कर्मफलानुसार

स्वयं भगवान् द्वारा पहले मार दिये गये हैं। इस प्रकार विजय तो सुनिश्चित है पर उनके वध में निमित्त तो उसे ही बनना पड़ेगा। अपने पारिवारिक जनों पूज्यजनों के गलत होने पर भी उसकी मृत्यु या वध में कौन स्वयं निमित्त बनना चाहेगा। अर्जुन के साथ भी यही बात हो सकती है कि वह स्वयं पूज्यजनों-स्वजनों के वध में निमित्त न बनना चाहे। ऐसी स्थितियां हम-आप सबके जीवन में आती हैं कि अमुक पारिवारिक जन गलत पथ पर है और सब प्रकार से समझाने पर भी वह अपने गलत पक्ष को छोड़ना नहीं चाहता, फिर भी हम स्वयं उसके दण्ड में निमित्त नहीं बनना चाहते और हम कहते हैं आप दण्ड देना चाहते हो तो दो, मैं आपत्ति के लिये बीच में नहीं आऊँगा। और अर्जुन जानता है कि आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म के वध में उसे ही निमित्त बनना पड़ेगा, वही इस पक्ष का सर्वश्रेष्ठ योद्धा है, उसी पर पाण्डवों की विजय निर्भर करती है। वही भीष्म और द्रोण के सम्मुख युद्ध में खड़ा हो सकता है, अन्य कोई नहीं। उस स्थिति में भगवान् यदि उसे कहें कि ऊँची एवं श्रेष्ठ भक्ति तो अव्यक्त की एवं ज्ञानी की भक्ति है क्योंकि तत्त्व तो यही है। तो वह कहेगा कि मुझे व्यक्त और वह भी भीषण युद्ध जिसमें अपने परिजनों का संहार करना पड़ेगा उसमें क्यों लगाते हो।

फिर श्रेष्ठ साधकों यथा रामकृष्णदेव, रमण महर्षि, शुकदेव, शंकराचार्य, विवेकानन्द प्रभृति साधक जो जन्म-जन्मान्तर से साधना करते आये हैं पर पूर्वजन्म में साधना परिपाक को प्राप्त नहीं हुई तो इनके लिये अव्यक्त की उपासना सहज एवं स्वाभाविक है। ऐसे साधकों की संख्या नगण्य होती है।

सामान्य तौर पर बाद-बाकी सभी व्यक्त के द्वार से ही अव्यक्त तक पहुँच सकते हैं। हमारे मन को आधार चाहिये। सूरदास बाबा कहते हैं—निरालम्ब मन इत उत धावैं। हमारे मन को आलम्बन चाहिये। जो हमें सगुण-साकार रूप में प्राप्त होता है। इसमें व्यक्त का अर्थ सगुण-साकार व्यक्तिरूप भगवान्। जैसे भगवान् राम, श्रीकृष्ण, शिव-पार्वती, गणेश आदि। इनकी साकार मनुष्य रूप प्रतिमाएँ बनाकर उनकी भी पूजा-अर्चना करते हैं। इस सगुणोपासना में हम इष्टदेव के रूप को ध्यान में लाते हैं, इष्टदेव की लीलाओं को, उनके स्वभाव गुण एवं प्रभाव को ध्यान में लाते हैं। और उनसे तद्‌रूप जुड़ जाते हैं।

दूसरा स्तर सगुण निराकार आता है। इसमें इष्टदेव को सर्वव्यापी सत्ता के रूप में स्वीकारते हैं, नाम-रूप लीला ध्यान को बाद देकर इष्टदेव को केवल गुणों को स्वीकारते हैं, जैसे—ये सृष्टिकर्ता हैं, कर्मफलदाता हैं, मुक्तिदाता हैं, कृपा निधान हैं। सबके एकमात्र सहारा हैं। शक्ति, शील, सौन्दर्य, करुणा, मैत्री, अहिंसा, सत्य शांति आनन्द आदि अनन्त गुणों से युक्त हैं। ये सब ईश्वरीय गुण हैं किन्तु वह ईश्वर कोई आकारधारी व्यक्ति नहीं है अतः सगुण निराकार है। आर्य

समाजी सगुण-साकार को तो नहीं मानते परन्तु सगुण-निराकार को मानते हैं। इसमें केवल गुण का आश्रय हमें प्राप्त होता है।

तीसरा स्तर है—परमसत्ता को किसी गुण में नहीं बाँध सकते। गुण का अर्थ रज्जु या बंधन है। परमसत्ता में गुणों का आरोप करना उसको बांधना है, उसका तिरस्कार करना है। मूल गुण तीन हैं—सत्त्व, रज और तम। ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। अतः जिस भी व्यक्ति या वस्तु के गुण गिनाये जायेंगे वह प्रकृति के अधीन होगा जबकि प्रकृति परमेश्वर के अधीन है। और परमेश्वर उसके अधीन कभी नहीं। इसलिये ब्रह्म में गुण गिनाने से ब्रह्म की महत्ता कम हो जाती है। प्रत्येक वस्तु का एक मूल रूप होता है और एक गौण रूप होता है। मूल रूप में वह अपने-आप में स्थित है और गौण रूप से गुणों में स्थित है। ब्रह्म में गुण गिनाना उसे गौण बनाना है। इसलिये शंकराचार्यजी कहते हैं, ब्रह्म के सकारात्मक गुण नहीं गिनाये जा सकते। ब्रह्म के नकारात्मक गुण ही गिनाये जा सकते हैं—ब्रह्म निर्गुण, निरुपाधि, निराकार, निर्विकार, अजर-अमर, अविनाशी परमसत्ता है जो पूर्णतया अव्यक्त है।

इस प्रकार हम रूप के राज्य से अरूप में, स्वरूप में, नाम के राज्य से नामातीत में, गुण से निर्गुण में प्रवेश के अधिकारी होते हैं। अन्तिम लक्ष्य या गन्तव्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं।

पर हमारे स्वभाव की दुर्बलता है कि वह अपने अधिकार-क्षमता पर विचार नहीं करता, क्रमिक रूप से विकास नहीं करना चाहते। जिसे श्रेष्ठ बतायेंगे उसी में प्रवृत्त होना चाहता है। हम एक बार में छलाँग लगाकर सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचना चाहते हैं। Short cut में चलना चाहते हैं इसके लिये भले ही हाथ-पैर टूट जाएं। हम जिस क्षेत्र में भी हैं रातोरात उसको पा लेना चाहते हैं, क्रमिक रूप से उठने का धैर्य हमारे पास नहीं है। हम रातोरात करोड़पति होना चाहते हैं, शिक्षा-जगत् में हम तुरन्त सबसे बड़े पंडित होना चाहते हैं। साधना जगत में हैं तो रातोरात सर्वोच्च स्थिति में पहुँचना चाहते हैं इसे अन्तर्यामी भगवान् अच्छी तरह जानते हैं।

फिर मनुष्य की श्रद्धा दुर्बल होती है। हम किसी एक साधना में लक्ष्य के सिद्ध होने तक अपने मन को नियुक्त नहीं कर पाते हैं। वह एक साधना में प्रवृत्त होता है पर तुरन्त फलीभूत नहीं होने पर साधना या इष्टदेव बदल लेता है। वह काली को भजता है तो शीघ्र सफलता नहीं मिलने पर दुर्गा को, तो फिर किसी ने सन्तोषी माँ का बता दिया तो सन्तोषी माँ को भजने लगता है। जीवन भर यही सब करता रहता है। रामकृष्णदेव ने कुएं के उदाहरण से इसे समझाया है। एक भक्त एक गुरु के पास पहुँचा दीक्षा लेने के लिये। उसने बताया पहले तीन गुरु से दीक्षा

ले चुका है पर कोई फल प्राप्त नहीं हुआ। कृपया आप दीक्षा देकर मेरा मार्गदर्शन करें। उन्होंने कहा, दीक्षा के पहले सेवा करनी होगी आश्रम की। कल सुबह आना। जब आया तो कहा बाग में यहाँ गड्ढ़ा खोदो। शाम तक खोदा पानी नहीं निकला। दूसरे दिन दूसरी जगह खुदवाया तीसरे दिन तीसरी जगह खुदवाया पर कहीं पानी नहीं निकला। तब भक्त ने कहा, आप एक ही जगह खुदवाते तो अब तक पानी निकल आता। तब गुरु ने कहा, यही उत्तर तुम्हारे लिये भी है। पहला जो मन्त्र मिला उसी से काम होगा बस लगे रहो अन्य मन्त्र की आवश्यकता नहीं है। पुरी के महाराजजी का गायत्री मन्त्र का उदाहरण। एक साधक आईना रखकर उसके सामने गायत्री मन्त्र की साधना करता था, प्रत्येक माला के साथ देखता था कि कितना तेज बढ़ा। तो साधक की ऐसी दुर्गति न हो इसलिये भगवान जिस योग का प्रतिपादन जहाँ पर करेंगे उसी को श्रेष्ठ बतायेंगे। क्योंकि अधिकार भेद से सभी साधन-पद्धतियाँ अपने-अपने स्थान में श्रेष्ठ हैं।

अर्जुन की दृष्टि तो अपने तक सीमित है। पर भगवान् की दृष्टि तो व्यापक है, वे तो अर्जुन के निमित्त मानव मात्र का मार्गदर्शन करना चाहते हैं, कल्याण करना चाहते हैं। और हिन्दू धर्म में सभी को एक डण्डे से नहीं हांका गया है, क्योंकि सभी की प्रवृत्ति एक-सी नहीं है और न ही सभी एक समान विकास के स्तर पर खड़े हैं। सबके शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, नैतिक व अध्यात्मिक विकास का स्तर एक सा नहीं है। लक्ष्य तो सबका स्टेशन पहुँचना है पर सबके घर अलग-अलग मोहल्ले में स्थित हैं, अतः वह वहीं से चलेगा। अतः जितनी प्रकार की प्रवृत्तियाँ उतने ही देव, उतने ही मार्ग और सभी मार्ग अपने-अपने स्थान पर अधिकार भेद से श्रेष्ठ हैं।

अतः भगवान् के सामने कठिनाई है कि सीधे-सीधे अव्यक्त की उपासना को श्रेष्ठ नहीं बता सकते क्योंकि तत्त्व तो यही है पर अर्जुन पकड़ेगा और न ही सीधे-सीधे व्यक्त की उपासना को श्रेष्ठ कह सकते हैं क्योंकि इससे सिद्धान्त कटता है। अतः भगवान् घुमा-फिराकर कुशलता से युक्ति से अपनी बात कहते हैं जिससे उसे लगे कि उसके लिये तो व्यक्त की उपासना श्रेष्ठ है एवं सहज है। और अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् यह भी बता देते हैं कि तुम देह बोध सम्पन्न हो, तुम्हारा वैराग्य सशर्त है उसे तो विजय, राज्य, वैभव, धर्म एवं न्याय की पुनः स्थापना सब-कुछ चाहिये पर अपने कुल-कुटुम्ब को मारकर नहीं। पूज्य एवं श्रेष्ठजनों को मारकर नहीं। अन्यथा वैराग्य के फलस्वरूप जो आनन्द प्रकट होता है, बंधन से मुक्त होने पर मन, बुद्धि चित्त शांत हो जाता है—चाह गयी, चिन्ता गयी मनवा बेपरवाह। अतः मन शांत हो जाता है, हलका हो जाता है। पर तुम उसके स्थान पर विषाद से ग्रस्त हो क्योंकि तुम्हारा शरीर और संसार के

प्रति आकर्षण बना हुआ है, देह बोध सम्पन्न होने से तुम निर्गुण के अधिकारी नहीं हो।

जब तक शरीर और संसार सत्य एवं इसका सब-कुछ आकर्षक मालूम पड़ने के कारण सरसों की दाने की तरह हजारों जगह मन बिखरा हुआ है, उसको पहले एक जगह संसार के स्थान पर इष्टदेव पर केन्द्रित करें।

इसलिये अर्जुन की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए भगवान् दूसरे श्लोक में कहते हैं जो परम श्रद्धा के साथ अपने मन को निरन्तर मुझसे युक्त करके मेरी उपासना करते हैं वे युक्ततम (अर्थात् श्रेष्ठतम योगी) हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। अब इस दूसरे श्लोक को थोड़ा विस्तार से भी देखें—

मेरे मत से अपने मन को मुझमें निविष्ट कर देते हैं, आविष्ट कर देते हैं। पूरा मन लगाकर मुझसे नित्ययुक्त रहता है सतत युक्त रहते हैं। पहले श्लोक में सततयुक्त कहा, यहाँ नित्ययुक्त कहा। और सतत मेरा चिन्तन करते हुए, मेरा ध्यान करते हुए मुझसे जुड़ा रहता है अर्थात् ममतास्पद एकमात्र मुझको ही बनाते हैं। जिनका मन अनात्म वस्तुओं में रमण करता ही नहीं है। नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करता है। बुद्धि को भी मुझ में ही रमाते हैं। यहाँ मन का अर्थ पूरे अन्तःकरण से है। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार सब भगवान् में रमते हैं। वह ममतास्पद के साथ अहंतास्पद भी मुझे ही बना लेता है। मैं भगवान् का हूँ और भगवान मेरे हैं।

भगवान से वियुक्त होने के दो हेतु हैं—अहंता और ममता। अहंता माने False I झूठा मैं। शरीर इन्द्रिय, मन बुद्धि अहंकार को मैं समझ लेना अहंता है। शरीर के आधार पर मैं बड़ा बलवान हूँ, इन्द्रियों के आधार पर मैं बड़ा तेज दौड़ने वाला हूँ, मन के आधार पर मैं बड़ा मनस्वी हूँ, बुद्धि के आधार पर मैं बड़ा पण्डित हूँ, आदि। झूठे मेरेपन की भावना को ममता कहते हैं Sense of false my यह अहंता पर निर्भर करती है। गलत मैं की भावना से गलत मेरेपन की भावना उत्पन्न हो जाती है। मैं शुद्ध तो मेरापन शुद्ध है। मैं में भ्रान्ति तो मेरापन में भ्रान्ति। मेरापन मैं का ही परिणाम है और यह दोनों अज्ञान का परिणाम है।

सामान्यतः हम सृष्टि के तीन विभाग कर लेते हैं। इदम् मम् अहम्। स्वयं को अहम्, अपने से सम्बन्धित वस्तु-व्यक्ति को मम् तथा अपने से असम्बन्धित वस्तु व्यक्ति को इदम् कहते हैं। हम नित्य ही इदम् को मम्, मम् को अहम् बनाते रहते हैं। जैसे हम गंगा स्नान के लिये जाते हैं। गंगा इदम् है। जब स्नान के उपरान्त अपनी लुटिया में गंगाजल भर लेते हैं तो वह मम् हो जाता है और जब पान कर लेते हैं तो वह मम् से अहं हो जाता है। और मूत्र के द्वारा निकाल देने पर पुनः इदम् हो जाता

है। कोई मकान या गाड़ी खरीदते हैं तो मम् हो जाता है, उसमें अधिक आसक्ति होने पर अहम् हो जाता है क्योंकि गाड़ी में या मकान में दरार पड़ने पर लगता है मेरे हृदय में दरार पड़ गयी है। फिर जब उसको बेच देते हैं तो इदम् हो जाता है फिर वह रहे या नष्ट हो इसकी परवाह नहीं रहती। तो जब तक संसार को ही मम् के अन्तर्गत रखते, संसार ही ममतास्पद बना रहता है एवं जब अन्तःकरण से युक्त शरीर को ही अहं मानते रहते हैं तब तक हम भगवान् से अयुक्त रहते हैं। पर जब ममतास्पद भगवान् को बना लेते हैं कि भगवान् तो मेरे हैं और फिर अहंतास्पद भी भगवान् को बना लेते हैं कि मैं भगवान् का हूँ तब हम भगवान् से युक्त हो जाते हैं। अतः जो भगवान् को ममतास्पद के साथ-साथ अहंतास्पद बना लेता है वही भगवान् के साथ युक्त है। जब तक हम शरीर और संसार को अहंतास्पद सांसारिक सम्बन्धों एवं वस्तुओं को ममतास्पद बनाये रखते हैं, तब तक भगवान् से अयुक्त रहते हैं। भगवान् को मानना, उसके अस्तित्व को स्वीकारना भगवान से युक्त होना नहीं है। भगवान के अस्तित्व को स्वीकारने से हम आस्तिक होते हैं और जब भगवान् से जुड़ना चाहते हैं और भगवान् को ही अपना अहंतास्पद और ममतास्पद बना लेते हैं तब भगवान् से युक्त होते हैं उसके पहले अयुक्त। भगवान् से जो जुड़ते हैं परम श्रद्धा के साथ उसके पहले अयुक्त। भगवान् से जो जुड़ते हैं परमश्रद्धा के साथ 'श्रद्धया परयोपेतास्ते' गीता में अन्यत्र केवल श्रद्धा शब्द आया है। केवल यहीं परमश्रद्धा शब्द आया है। परम श्रद्धा वह है जो कभी खण्डित नहीं होती है, अखण्ड बनी रहती है। सामान्य तौर पर हमारी श्रद्धा दुर्बल होती है। अनुकूलता जब तक बनी रहती है, भगवान् छप्पर फाड़कर देते हैं तब तक तो श्रद्धा अखण्ड बनी रहती है। पर जैसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आने लगती है, हमारी श्रद्धा विचलित होने लगती है, उसमें दरार पड़ने लगती है, खण्डित होने लगती है और कभी-कभी तो अश्रद्धा में परिवर्तित हो जाती है। हम भगवान् के विरोधी, नास्तिक बन जाते हैं। भगवान् से विमुख हो जाते हैं। भगवान् जब तक देते रहते हैं तब तक तो ठीक है पर जब वापस लेने लगते हैं, तब हमारी श्रद्धा दुर्बल पड़ जाती है। यहाँ तक कि अगर गर्मी में अधिक गर्मी पड़ने लगे, वर्षा में अति वृष्टि हो जाए, शीत में अधिक शीत पड़े तो भी हम लोग भगवान् को कोसने लगते हैं। हमारी इच्छा के प्रतिकूल कार्य होता है तो भगवान् को कोसने लगते हैं।

पर जिसकी श्रद्धा समय अनुकूल हो या प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति में, परम प्रतिकूल परिस्थिति में भी नहीं डिगती। लौकिक दृष्टि से बुरा से बुरा हो सकता है। वह बुरा से बुरा हो जाने पर भी यही सोचता है भगवान् हमारी परीक्षा ले रहा है। इसमें भी हमारा हित छिपा हुआ है अभी तो समझ में नहीं आ रहा है। भगवान् की कृपा है। करपात्रीजी महाराज कहते थे—घर में बेटा-बहू खूब सेवा

करे तो भगवान् की कृपा और सेवा के स्थान पर ताड़ना देवें, परोसी हुई थाली हटा लेवें तो वह परमकृपा है। रामजी हमारा जो कुछ भोग है कर्मफल है उसको भुगता रहे हैं, हमें भोग से मुक्त कर रहे हैं। यह भगवान् की बड़ी कृपा है तो यह है परम श्रद्धा। किसी भी स्थिति में हमारी श्रद्धा विचलित न हो, डिगे नहीं।

इस प्रकार जो मुझे ही अपना अहंतास्पद बना लेवे, परमश्रद्धा से पूरित होकर नित्य मेरे से जुड़े हुए मेरी उपासना करते हैं वह मेरे मत में उत्तमयोगी हैं।

फिर सगुणोपासना अपेक्षाकृत सरल है। हमारा मन चाहता है अनुकूल से अनुकूल स्पर्श की प्राप्ति हो। ज्ञानेन्द्रियों में त्वक् नामक ज्ञानेन्द्रिय की प्रीति-प्रवृत्ति अनुकूल से अनुकूल स्पर्श ग्रहण करने में होती है। इसी प्रकार मन सहित आँखों की प्रीति-प्रवृत्ति अभीष्ट रूप सेवन में होती है। मन चाहता है अनुकूल से अनुकूल रस की प्राप्ति हो। रसना नामक ज्ञानेन्द्रिय की प्रीति-प्रवृत्ति रस ग्रहण करने में होती है। मन चाहता है अनुकूल से अनुकूल गंध की प्राप्ति हो। गंध नामक ज्ञानेन्द्रिय की प्रीति-प्रवृत्ति अनुकूल से अनुकूल गंध के आस्वादन में होती है।

निर्गुण-निराकार परमेश्वर शब्द रहित है, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित है—निरालम्ब मन इत उत धावैं। खुद सूरदास बाबा ने लिखा है प्रभु आप असंङ्ग हैं, निर्द्वन्द्व हैं, व्यापक हैं, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन हैं। परन्तु आपके इस निर्गुण-निराकार रूप में मन रमता नहीं—निरालम्ब मन इत-उत धावैं। क्योंकि मन को शब्द का आलम्बन चाहिये। रूप रस गंध, स्पर्श का आलम्बन चाहिये। ज्ञानेन्द्रियों की गति जब आपके निर्गुण-निराकार रूप में है ही नहीं तो भला शब्द स्पर्श, रूप रस गंध का आलम्बन मन को कहां प्राप्त हो सकता है। बिना आलम्बन के मन भटक जाता है। इसलिये सूरदास बाबा ने लिखा है—मैं तो आपके सगुण रूप का भजन, चिंतन और यशोगान करता हूं।

देखिये, सगुणोपासना कैसे होती है। सगुणोपासना करते हुए हम अपने इष्टदेव का रूप ध्यान में लाते हैं, सगुणोपासना करते हुए इष्टदेव की लीलाओं को अपने मन में लाते हैं। यहाँ से उठकर चले जाएं नासिक के पास दण्डकारण्य में। जब से राम ने वहाँ वास किया तब से मुनि सुखी हो गये। दण्डक वन अभिशप्त था। वहाँ राक्षस वास करते थे और मुनियों को कष्ट देते थे। प्रभु के आने के बाद सब भाग गये हैं। मुनि निर्भय हो गये हैं। राम के प्रभाव से पर्वत नदी वन सभी प्रसन्न हो उठे। पंचवटी के सुन्दर वातावरण में भगवान राम एक बार एक शिला पर प्रसन्न मुद्रा में बैठे हैं। उस समय लक्ष्मणजी उनके निकट गये। उन्होंने कुछ अध्यात्मिक प्रश्न पूछे और भगवान् राम उपदेश कर रहे हैं जो रामगीता के नाम से प्रसिद्ध है। यह जो ध्यान है यह सगुणोपासना का ध्यान है। भगवान् के धाम को, भगवान् के रूप को, भगवान् की लीला को हम अपने मन में लाते हैं और उनसे तद्रूप जुड़ जाते हैं।

पर जो निर्गुणोपासना है वह ऐसे नहीं होती। निर्गुणोपासना में तो न नाम, न रूप, न लीला है, न धाम है, न गुण है। निर्गुणोपासना में हम भगवान् को सच्चिदानन्दघन मानकर उनके ज्योति स्वरूप का, उनके सत् स्वरूप का, चित्त स्वरूप का, आनन्द स्वरूप का बार-बार भावन करना और यह जो सारा दृश्य-प्रपंच है, जगत है उससे विमुख होना है। अब देखिये तीसरे से चौथे श्लोक में भगवान् निर्गुण उपासना के गुण बताये हैं जिसमें आठ गुण अव्यक्त ब्रह्म के बताये हैं और तीन गुण उपासक के बताये हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। 12/3-4

परन्तु जो सबमें सम्बुद्धि रखते हुए समस्त प्राणियों के हित में रत रहते हुए इन्द्रिय समुदाय को भलीभाँति वश में करके जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसे अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्तनीय कूटस्थ, अचल एवं नित्य अक्षर की उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

इसमें तीन गुण साधक के और आठ गुण ब्रह्म के बताये हैं—

परमेश्वर अक्षर
जो बिना निर्देश वाला है
जो अव्यक्त है
जो सर्वव्यापक है
जो अचिन्त्य है
जो कूटस्थ है
जो अचल है
जो ध्रुव है
जिन भक्तों ने अपनी इन्द्रियों को वश में किया है
जो सर्वत्र सम्बुद्धि हैं
जो सब भूतों के हित में लगे हैं

अब ब्रह्म के गुणों को एक-एक करके देखें—

पहला है अक्षर जिसका कभी विनाश नहीं होता है। सर्वव्यापी है। अनिर्देश्य जिसका किसी भी प्रकार से निर्देश नहीं किया जा सकता। कोई संकेत नहीं। शब्द

की प्रवृत्ति जाति, गुण, क्रिया सम्बन्ध के आधार पर होती है। इनमें से कोई भी विशेषता ब्रह्म में नहीं। हम कहते हैं देखो वह जो गोरा था, फुल पैन्ट शर्ट पहने हुए है वह अमुक का पुत्र है, अमुक का पति है, अमुक का भाई है, वहाँ Service करता है। इसी तरह तो किसी का निर्देश करते हैं पर जिसका कोई रंग रूप आकार किसी से कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये उसका कोई निर्देश नहीं किया जा सकता है। निर्गुण परमात्मा चूँकि अज और अद्वितीय है अतः जातिपरक शब्दों की प्रवृत्ति निर्गुण परमात्मा में नहीं हो सकती। ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि जो जातिपरक शब्द हैं उन शब्दों की परमात्मा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि परमात्मा स्वरूप से अज और अद्वितीय है—निर्गुणम् निष्क्रियम्। निर्गुण है ब्रह्म अतः गुणपरक शब्दों की परमात्मा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती—श्वेत, नील, पीत आदि गुणपरक शब्द हैं। उनकी प्रवृत्ति निर्गुण परमात्मा में नहीं हो सकती है। इसी प्रकार क्रियापरक पाचक, पाठक आदि शब्दों की निर्गुण परमात्मा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि निर्गुण निराकार परमात्मा निष्क्रिय है। अतः क्रियापरक शब्दों के द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता है। परमात्मा असङ्ग है अतः सम्बन्धपरक शब्दों की परमात्मा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। मेरा-तेरा आदि जितने सम्बन्ध-परक शब्द हैं उनकी प्रवृत्ति परमात्मा में नहीं हो सकती। और परमात्मा सर्वतो-भावेन अगोचर है अतिन्द्रिय है। इसलिये नित्य डवित्थ आदि रूढ़िपरक जो शब्द है उसकी प्रवृत्ति भी परमात्मा में नहीं हो सकती है। अब एक वाक्य को देखिये—श्याम लाल की श्यामा गाय श्याम सुन्दर के खेत में सुबह से हरी-हरी घास चर रही है। इस वाक्य में शब्दों की प्रवृत्ति जाति को लेकर, गुण को लेकर क्रिया, सम्बन्ध और रूढ़ि को लेकर हुई है। निर्गुण परमात्मा शब्द के जितने निमित्त है उनसे रहित है। अतः अनिर्देश्य है। अव्यक्त, जो प्रकट नहीं है। जो दिखाई नहीं पड़ता। आँखों से ही नहीं, शब्द स्पर्श, रूप, रस गंध किसी भी प्रकार से हमारी पकड़ में नहीं आता है।

सर्वत्रगम्य—सर्वत्र जाने वाला है। सर्वव्यापी है।

अचिन्त्य—जिसका हम चिन्तन भी नहीं कर सकते। हमारे चिन्तन के भी परे है।

कूटस्थ—कूटस्थ शब्द के कई अर्थ हैं। कूट माने पहाड़। जिस प्रकार पहाड़ पर पानी बरसे या कड़ाके की धूप पड़े या कड़ाके का शीत पड़े वह सदा-सर्वदा एक सा स्थिर रहता है। निश्चल, निर्विकार रहता है। कूट का एक अर्थ निहाई है जिस पर सुनार अलंकार गढ़ता है और लुहार बर्तनों को गढ़ता है। लेकिन निहाई ज्यों-की-त्यों निर्विकार रहती है। लोहे को निहाई पर रखकर लुहार लोहे को ठोकता, काटता, पीटता है पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जो अपरिवर्तनीय

है। कूट का एक अर्थ माया। ब्रह्म माया में अधिष्ठान रूप से स्थित है। इस प्रकार कूटस्थ के कई अर्थ बताये गये हैं।

अचलम्—जिसमें किसी भी प्रकार की हलचल या विकार नहीं है। ध्रुवम्—जो नित्य रहने वाला है।

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के आठ गुण बताये गये हैं। अब इसकी उपासना कैसे करनी है इसके लिये उपासक में तीन गुण बताये गये हैं—

संनियम्येन्द्रियग्रामं—इसमें समस्त इन्द्रियों को संयमित करना पड़ता है। अब यहाँ देखिये सगुणोपासना और निर्गुणोपासना में मौलिक अन्तर क्या है? सगुणोपासना में हमारी सारी इन्द्रियाँ काम करती है। हमारी आँख भगवान् का रूप दर्शन करती है, हमारे कान भगवान् की कथा श्रवण करते हैं। हमारी नासिका भगवान के चरणों में चढ़े हुए पुष्पों का आघ्राण या गंध लेती है। हम अगर इतने भाग्यवान हों तो हम उनका स्पर्श कर लें। हमारे चरण उनके धाम में जायेंगे, हमारा हाथ उनकी सेवा करेगा। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय उनको समर्पित है। प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सार्थकता का अनुभव कर रही है, सगुण-साकार की उपासना करके। पर निर्गुण-निराकार की उपासना करते समय प्रत्येक इन्द्रिय को संयमित कर देना पड़ेगा। आँख इस जड़ जगत को न देखे, कान इसकी बात न सुने। इन सारी इन्द्रियों को निरुद्ध करना कितना कठिन है। एक-दो इन्द्रियों को नहीं समस्त इन्द्रियों को यानी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को और मन को जो दसों इन्द्रियों का नियामक है, राजा है उसको संयमित करके निरुद्ध करके, उनको जगत से विमुख करना। यह बड़ा कठिन कार्य है।

फिर उपासक की दूसरी विशेषता है 'सर्वत्र सम्बुद्धय' यह बहुत बड़ी बात है। गीता साम्ययोग का उपदेश करती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। 5/19

जिनका मन साम्य में स्थित है। इन्होंने इसी जीवन में, सारी दुनिया को जीत लिया है। भगवान् सम्बुद्धि है। उनकी दृष्टि सबके प्रति समान रहती है। उनके लिये न कोई अपना है और न कोई पराया है, न कोई अनुकूल और न कोई प्रतिकूल है। सबके प्रति सम्बुद्धि। शिव की उपासना शिव बनकर की जाती है। अतः सम्ब्रह्म की उपासना सम होकर ही की जा सकती है।

और उपासक का तीसरा गुण है, सर्वभूतहितेरताः। 'सर्वभूतहितेरताः' यह सम्पूर्ण गीता में दो बार ही आया है और दोनों बार निर्गुण के प्रसङ्ग में आया है। एक तो यहीं अध्याय 12/4 में और दूसरा पाँचवें अध्याय के 25वें श्लोक में आया है। तो भक्त है, संयमी हैं वे निठल्ले नहीं रहते। जिसकी सर्वत्र सम्बुद्धि है

न कोई अपना है और न कोई पराया है इसलिये वह जिस भी कार्य में प्रवृत्त होगा वह सर्वहित की कामना से। क्योंकि उसका किसी के प्रति विभाव है नहीं। अतः वह सर्वभूत-हित में रत रहता है। निर्गुण-निराकार के उपासक मूलतः चिन्तन के स्तर पर सबका कल्याण चाहते हैं। वह जो भी सेवा कार्य करता है सबके हित को दृष्टि में रखकर करता है।

ऐसे जो निर्गुण उपासक हैं वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

इसमें दो बातें देखने योग्य है। पहली बात यह कि सगुणोपासना और निर्गुणोपासना के मार्ग अलग-अलग हैं पर गंतव्य एक है, लक्ष्य एक है। प्राप्तव्य एक है। क्योंकि मूल तत्त्व में तो कोई भेद है ही नहीं। क्योंकि जो निर्गुण-निराकार है वही तो सगुण-साकार बनता है। मूल एक होने से तत्त्व एक होने से हम चलें भले ही किसी मार्ग से पर पहुँचते तो उसी तक हैं। हमारा भी लक्ष्य है प्रभु प्राप्ति और प्रभु भी एक ही हैं अतः फल में एकता हैं। साधन में केवल अनेकता है। यह नहीं कि सगुणोपासना करने वाले को कुछ और मिलता है और निर्गुणोपासना करने वाले को कुछ और मिलता हैं। सगुणोपासक को वही प्राप्त होता है जो निर्गुणोपासक को प्राप्त होता हैं। रास्ते अलग-अलग है, मंजिल एक हैं। लक्ष्य एक हैं। जैसे कहा गया है—सर्वदेव नमस्कारः केशव प्रति गच्छति। किसी भी दिशा से उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिम दिशा से नदी बहे समुद्र में जाती है। जैसे उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम वाहिनी नदियां समुद्र में ही जाती है वैसे ही आप किसी भी मार्ग पर पूरी निष्ठा के साथ, श्रद्धा के साथ चलेंगे तो परमात्मा से ही मिलेंगे एकदम स्पष्ट कह दिया। 'प्राप्नुवन्ति मामेव' मुझको ही प्राप्त होता है। गन्तव्य की दृष्टि से, लक्ष्य की दृष्टि से दोनों समान स्थान पर पहुँचते हैं। फिर दो रास्ते क्यों हैं? क्योंकि दोनों की वृत्तियाँ अलग-अलग हैं। सब धान बाईस पंसेरी नहीं हो सकता है। सबको एक ही डण्डे से नहीं हाँका जा सकता है।

केवल हम लोगों की साधना भारतवर्षीय साधना है जिसमें साधना का एक ही प्रकार नहीं बताया है। हमारी-तुम्हारी-सबकी अलग-अलग वृत्तियाँ हैं। जितने मनुष्य हैं उनकी उतनी ही वृत्तियाँ हैं। साथ ही सबका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक व अध्यात्मिक विकास का स्तर एक सा नहीं है। सभी विकास के अलग-अलग स्तर पर खड़े हैं। जो विकास के जिस स्तर पर पहुँच गया है उससे आगे की यात्रा उसे करनी है। अतः अलग-अलग वृत्तियों एवं अलग-अलग विकास के स्तर के अनुसार अलग-अलग साधन क्यों नहीं होने चाहिये। इसलिये गीता में अलग-अलग साधनाओं का वर्णन है। और वे सबकी सब साधनाएँ परमात्मा तक जाती हैं।

हाँ, निर्गुणोपासना में गति सगुणोपासना के द्वार से ही होती है सामान्य तौर पर। यह अभिमत भगवान् शंकराचार्य का भी है। और वैष्णवाचार्य जो निर्गुणोपासना को नहीं स्वीकारते वे सगुणोपासना द्वारा ही अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचते हैं।

अब यह देखिये यह एक कहने का तरीका हुआ। व्यक्त उपासना को श्रेष्ठ युक्ततम बता दिया और अव्यक्त के उपासक ज्ञानी भक्त को भी कह दिया ये भी मुझे ही पाते हैं। याने यह Secondary हो गया निर्गुण ज्ञानी भक्त। यह भगवान् का कहने का तरीका है जिसमें अर्जुन को लगे कि सगुण भक्ति वाले जो हैं वे युक्ततम हैं और ये जो ज्ञानी हैं ये भी मुझे ही पाते हैं। इसका स्थान बाद का है। जैसे अकसर माता अपने छोटे पुत्र या पुत्री को दुलार से राजा बेटा, रानी बेटी, यह मेरा प्रिय पुत्र है कहती हैं। फिर कोई माता से पूछे यह आपका बड़ा बेटा? तो माता कहती है, हाँ, यह भी मेरा पुत्र है। माता के मन में दोनों पुत्रों में कोई भेद थोड़े ही है पर छोटे बेटे को दुलार में राजा बेटा कहती है। यह एक कहने का तरीका मात्र है। माता के दो पुत्र हैं—एक प्रौढ़ ज्ञानी बेटा जो अव्यक्त का उपासक है एक छोटा बेटा सगुण उपासक के तुल्य है। प्रौढ़ बेटा स्वयं के पैर पर खड़ा है, माँ को भी पोषण देता है, माँ का आज्ञाकारी भी है, आवश्यकता पड़ने पर माँ से दूर भी रह सकता है। दूसरा माँ का छोटा बेटा जो माँ पर निर्भर है, माँ को छोड़कर नहीं रह सकता। अब माँ को कहा जाए दोनों में आप एक को ही अपने पास रख सकती है तब माँ क्या करेगी। छोटे बेटे को छाती से चिपकायेगी। तो इसका मतलब बड़ा बेटा माँ को पसन्द नहीं है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। बड़ा बेटा अपने पैर पर खड़ा है, माँ से दूर रह सकता है। यही स्थिति यहाँ भगवान की है। अव्यक्त का उपासक ज्ञानी भक्त भगवान् का प्रौढ़ बेटा है, बड़ा बेटा है और सगुण का उपासक भगवान् का छोटा बेटा है। इसलिये भगवान् कहते हैं, सगुण का उपासक श्रेष्ठ है और योग वेत्ता है, और—और ज्ञानी भक्त भी मुझे ही पाते हैं।

फिर अर्जुन को यह न लगे कि ज्ञानी भी जब भगवान् को ही पाते हैं तो मुझे भी उधर से ही, उसी रास्ते से ले चलिये ना। क्योंकि जब दोनों पद्धतियों से भक्त आपको ही पाता है तो मुझे भी उसी रास्ते ले चलिये। तब भगवान् सावधान करते हुए कह देते हैं 5वें श्लोक में जिनका देहबोध बना हुआ उनके लिये यह क्लेशकर है। जिनकी साधना सम्पदा न्यून है, प्रारम्भिक है या मध्यम कोटि का साधक है उसके लिये यह मार्ग कष्टकर है। क्योंकि इस रास्ते में कठिनाई बहुत है। जो देह बोध वाले लोग हैं, जब तक शरीर की प्रतीति बनी हुई है उनके लिये ज्ञान के रास्ते पर चलना बहुत क्लेशकर है। जब तक देह के धर्म, प्राण के धर्म, मन के धर्म, बुद्धि के धर्म, अहंकार के धर्म को स्वयं पर आरोपित करके सुखी-दुखी होते रहते

हैं, तब तक हम देहबोध वाले हैं और इस पथ के अधिकारी नहीं हैं। राम कृष्णदेव कहा करते थे काँटा चुभने पर चीत्कार भी करे और शिवोऽहम् शिवोऽहम् या सोऽहम् की भी रट लगाये यह दोनों एक साथ नहीं चल सकते। काँटा चुभने पर मुँह से चीत्कार निकलती है तो देहबोध बना हुआ ही है। अतः देहबोध वाले के लिये इस पथ पर चलना कठिन है। और भगवान् अप्रत्यक्ष रूप से बता देते हैं, तुम देहबोध वाले हो। पारिवारिक मोह से ग्रस्त एवं भय त्रस्त हो। तुम्हारा सारा वैराग्य सशर्त है। अर्जुन को विषय मात्र से राज्य मात्र से विजय मात्र से वैराग्य नहीं है। जरासंध या शिशुपाल या केवल दुर्योधन-दुःशासन-कर्ण-शकुनी आदि की सेनाएं खड़ी होती युद्ध के लिये तो उसे युद्ध में आपत्ति नहीं होती। अर्जुन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा चाहता है, न्याय की पुनः प्रतिष्ठा चाहता है, वह अन्यायी दुराचारियों को दण्ड तो देना चाहता है अतः उसे राज्य तो चाहिये बस बीच में जो कुटुम्बी जन एवं पूज्य जन आ गये यही उसके लिये बाधक हैं, वैराग्य का निमित्त है। अतः यह शुद्ध वैराग्य नहीं है, सशर्त है। जबकि इस पथ पर चलने वाले का शुद्ध एवं पूर्ण वैराग्य से युक्त होना आवश्यक है। इसलिये यदि तू ज्ञान के रास्ते पर चलने की इच्छा करता होगा तो इस इच्छा को छोड़ दे। क्योंकि तेरी पात्रता उस रास्ते पर चलने की नहीं है। यह इसका निहित तात्पर्य है। अब इसे विस्तार से पाँचवें श्लोक में देखे—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता ही गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।5।।

अब अव्यक्त (ब्रह्म) में आसक्त चित्त वाले को (साधना में) अधिक क्लेश होता है; क्योंकि देहवानों को (अर्थात् देहाभिमानियों को) अव्यक्त विषयक गति कष्टपूर्वक प्राप्त होती है।

जिनका देहबोध बना हुआ है, देहाभिमान से ग्रस्त हैं जो स्वयं को सगुण साकार शरीर मानते हैं ऐसे व्यक्तियों की आसक्ति तो निर्गुण ब्रह्म में होती है पर उनकी स्वयं की स्थिति सगुण-साकार देह में ही है अतः उनके लिये निर्गुण की साधना कष्टकर है। अर्जुन का भी देहबोध तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, पर युद्ध न करना पड़े इसलिये उसकी आसक्ति निर्गुणोपासना में है। उन जैसे देहबोध वालों के लिये अव्यक्त की उपासना अधिक कष्टकर है। कहना न होगा 99% से भी अधिक व्यक्ति यानी शत-प्रतिशत व्यक्ति अपने-आपको सगुण साकार ही मानते हैं। जब हम अपने आपको सगुण साकार मानते हैं तो सगुण-निराकार या निर्गुण-निराकार में हमारा मन कैसे रम सकता है। जब तक हम अपने को शरीर मान बैठे हैं तब तक हमारा परमात्मा भी साकार ही होगा। जब हम अपने को शरीर से अलग कर लेंगे—यह शरीर हम नहीं हैं, यह शरीर भी मेरा नहीं, मेरा इस शरीर से

कुछ लेना-देना नहीं। जब हम अपने को जीवात्मा मानेंगे, निराकार आत्मा मानेंगे तब हम निराकार परमात्मा को पा सकेंगे। जब तक हम अपने को साकार मानते हैं तब तक हमारा उपास्य भी साकार होगा। अगर हम अपने को साकार मानकर निराकार की उपासना करेंगे तो देहाभिमानियों को अव्यक्त की गति बहुत दुःख से प्राप्त होगी। आपका देहाभिमान अभी भी छूटा नहीं, आप अभी भी देहवत् हैं, देहवान हैं, अभी भी अव्यक्त के प्रति आपकी निष्ठा नहीं हुई। अभी भी अव्यक्त के प्रति केवल आपकी आसक्ति है। यानी अव्यक्त के प्रति आसक्ति यानी अभी इसमें कचाई है और अब भी अपने को देहवान मानते हैं इसलिये आपको अधिक क्लेश होगा, अधिक कष्ट होगा।

इसमें भगवान् ने साफ कर दिया जो देहाभिमानी हैं उनके लिये यह रास्ता कठिन है, क्लेशपूर्ण है। और जो विवेकी हैं, ज्ञानी हैं, जिनका देहज्ञान विगलित हो गया है उनके लिये यह रास्ता क्लेशकर नहीं है। यह क्लेशकर उसके लिये है जो देहाभिमान से ग्रसित हैं, देह के प्रति बहुत सजग है, उनकी अव्यक्त के प्रति केवल आसक्ति है तो ऐसा जो मंद अधिकारी है उसके लिये निर्गुणोपासना ज्यादा कष्टकर होगी ही। लेकिन निर्गुणोपासना में जो विवेकी होंगे, जिनका देहाभिमान छूट गया है, गल गया है, उनका अव्यक्त के प्रति केवल आसक्ति का भाव नहीं, वरन् जिनकी निष्ठा हो गई उनके लिये क्लेश कारक नहीं होगा।

देहधारियों के लिये सगुणोपासना को युक्ततम बता दिया भगवान् ने। और विवेकियों के लिये, उत्तम अधिकारी के लिये निर्गुणोपासना उपयुक्त है, सहज है। इस प्रकार भगवान् अधिकार भेद से दोनों मार्गों को सम्मान दे रहे हैं और सावधान भी कर देते हैं जब तक व्यक्ति देहवान है तब तक इन्द्रियों का सदुपयोग करने का मार्ग, सगुण साकार की उपासना का मार्ग अधिक सुरक्षित है। प्रशस्त है एवं अधिक सहज है। इन दोनों मार्गों की तुलना करके निर्गुणोपासना के मार्ग की कठिनाई को रेखांकित कर दिया। ताकि मंद एवं प्रारम्भिक तथा मध्यम अधिकारी की प्रवृत्ति इस मार्ग में न होवे। तो अधिकारीविशेष के लिये सगुणोपासना को उत्कृष्ट बता दिया और दूसरे अधिकारीविशेष के लिये निर्गुणोपासना को उपयुक्त बता दिया।

जब तक देहबोध से बंधे हुए हैं, देह के प्रति आसक्ति है, अहंता-ममता बनी हुई है उनको निर्गुणोपासना में क्लेश अधिक प्राप्त होता है। क्योंकि निर्गुण-निराकार परमात्मा में न रूप का आलम्बन है, न नाम का, न लीला और धाम का, न ही गुण का—ऐसी स्थिति में मन का निर्गुण-निराकार परमात्मा में रम पाना सगुण साकार परमात्मा में मन को रमाने की अपेक्षा अधिक क्लेशकर है।

यद्यपि इन दोनों मार्ग में ही क्लेश है पर तुलनात्मक दृष्टि से सगुण भक्ति अपेक्षाकृत कम कष्टकर है। क्लेश तो दोनों ही मार्ग में है भेद केवल अल्पतर एवं गुरुतर का है। इसलिये भगवान् ने 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' कहा है। तुलनात्मक एवं अपेक्षाकृत दृष्टि से सगुण भक्ति सहज है। यदि सगुण भक्ति सहज होती तो हम सभी मीराबाई के सदृश, सूर, तुलसी, नरसी के सदृश बन जाते हैं क्योंकि ये सबके सब सगुण भक्ति के उपासक हैं।

अवतार काल में भक्ति थोड़ी सहज है। क्योंकि अवतार काल में तो भगवान् अपनी रूप माधुरी के द्वारा वेणुवादन आदि के द्वारा व्यक्ति के मन को खींच लेते हैं फल बल डंके की चोट से। समस्या उस समय होती है जिस समय भगवान् का अवतार काल नहीं है। भगवान् की प्रकट लीला नहीं है। भगवान् के स्वभाव, गुण व प्रभाव आदि का श्रवण करके, भगवान् में मन लगाते हैं जो कठिन है। अरे! बेटे, पति-पत्नी में मन लग जाना सरल है क्योंकि इसमें तत्काल प्रत्युत्तर प्राप्त होता है। पर भगवान् के साथ ऐसी बात नहीं। भगवान् को ग्रन्थ के बल पर, श्रवण के बल पर, चित्र के बल पर देख रहे हैं वैसे तो कोई लीला कर रहे नहीं। अवतार काल में तो मन लग जाना बहुत सुगम है। लेकिन जब भगवान् की प्रकट लीला नहीं हो रही है अतः आजकल तो सगुण में भी मन लगाना कठिन है। तो फिर निर्गुण में लगाना तो और कठिन है। अतः साधक की सुगमता की दृष्टि से सगुणोपासना को युक्ततम बताया।

वैसे तो दोनों की तुलना नहीं हो सकती। भगवान् पहले ही बता चुके हैं—ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 7/18। निर्गुणोपासना में तत्त्वमसि आदि महावाक्य का आलम्बन लेकर अभेद दृष्टि से भगवान् की उपासना करने वाला तो भगवद् रूप ही है। अतः इन दोनों की तुलना नहीं हो सकती। इसके बारे में एक कथा कही जाती है। एक बार सूरदास बाबा से किसी ने कहा कि कविता आपकी अच्छी है या तुलसीदास की। कविता तो दोनों की बड़ी अच्छी है। पर रगड़ा लगाने वाले बड़े विचित्र लोग होते हैं। कविता आपकी अच्छी या तुलसीदास की किसी ने प्रश्न कर दिया। अब यह एक समस्या है। सूरदास बाबा ने बेखटके कह दिया, मेरी। तो लोगों को खटका हुआ यह जलते हैं क्या? पर संत हैं जलेंगे तो नहीं। लेकिन सूरदास बाबा ने बिना किसी संकोच के बेखटके कह दिया कविता तो मेरी अच्छी। अब पूछने वाले की दाल नहीं गली। अब उसने कहा, तुलसीदासजी की कविता? अरे, तुलसी की कविता तो मंत्र है। मंत्र से कविता की तुलना थोड़े ही की जाती है। सूरदास बाबा ने कितनी बढ़िया बात कही। कविता किसकी अच्छी है, महाराज! आपकी या तुलसी की? उन्होंने कहा, मेरी। हाँ, बेखटके मेरी। तो तुलसीदासजी की। अरे, तुलसीदासजी की कविता

थोड़े है, वह मन्त्र है। मन्त्र क्यों है? आपको मालूम है वेदों का सार मंथन करके लिखा है। नाना पुराणों, वेद उपनिषदों का मंथन करके रामचरितमानस लिखा है। शंकर भगवान् के मुख से विगलित है। शंकर भगवान् स्वयं वक्ता हैं उमा के प्रति। शंकर भगवान के मुख से निकले हैं इसलिये मंत्र हैं। उनके अनुष्ठान होते हैं। वर्षा न हो तो 'सो ही जल अनल' यह जो पंक्ति है इसके अनुष्ठान का सम्पुट पाठ लगा देवें तो वर्षा होकर रहेगी। ऐसे 'जय-जय गिरिवर राजकिशोरी' हजारों कन्याओं का विवाह करवा दिया। अतः तुलसीदासजी की कविता को कविता नहीं कहा सूरदासजी ने। तुलसी तो जो लिखते हैं वह मन्त्र है। मन्त्र से कविता की तुलना थोड़े ही हो सकती है। कविता का जहाँ तक प्रश्न है वो तो मेरी ही कविता अच्छी है। दोनों की प्रशंसा हो गयी या नहीं। इसलिये भगवान् से अर्जुन ने पूछा, सगुण उपासक युक्ततम है या निर्गुणोपासना। तो भगवान् ने कहा, सगुणोपासना युक्ततम है। और निर्गुणोपासना पर तो पहले ही कह चुका हूँ। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 7/18 और फिर कहते हैं ते प्राप्नुवन्ति मामेव 12/4। ये भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः उनकी तो तुलना ही नहीं है। सगुणोपासना की घाटी पार करके ही निर्गुणोपासना में स्थिति आती है। निर्गुणोपासना में भी जो तत्त्वविचार का आलम्बन लेकर निर्गुणोपासना कर रहा है वह तो सिद्ध है या सिद्धता के निकट है। ऐसी स्थिति में उससे तुलना नहीं की जा सकती। तुलना अगर नहीं की जा सकती तो यह कहेंगे कि सुगमता की दृष्टि से सगुणोपासना युक्ततम है और ज्ञानी वो तो मेरा रूप ही है। इसका मैं स्वयं उद्धार करता हूँ और वह तो स्वयं ही भव सागर से उत्तीर्ण हो जाता है।

अतः पहल की दृष्टि से सगुण से प्रारम्भ करके ही निर्गुण की मंजिल तक पहुँचने के अधिकारी होते हैं। रामकृष्ण परमहंसजी की साधना का क्रम भी यही था। जबकि वे तो ऊँचे अधिकारी थे। पर उनको साधना क्रम बताकर लोक शिक्षण देना था। रामकृष्णदेव ऊँचे अधिकारी थे इसलिये सगुण से निर्गुण में पहुँचने में समय नहीं लगा। जब रामकृष्णदेव का मन माँ काली में जाने लगा तब तोतापुरी ने कहा, विचार के द्वारा, ज्ञान के खड्ग के सहयोग से उसके पार जाओ और एक काच का टुकड़ा लिया और आज्ञाचक्र में गड़ा दिया, खून निकलने लगा। वहीं अपने ध्यान को केन्द्रित करने को कहा और वे तुरन्त निर्विकल्प समाधि में चले गये और तीन दिन तक उसी में बने रहे। ऐसे ही दक्षिण भारत में रामदास स्वामी हुए हैं वे भी सगुण के उपासक थे। केवल नाम जप ही करते थे। वे राम-नाम जप करते थे। एक दिन इच्छा हुई सभी ध्यान करते हैं मैं भी थोड़ा ध्यान करके देखूँ। आसन लगाकर ध्यान करने लगे तो तुरन्त ध्यान की गम्भीरता में पहुँच गये क्योंकि नाम-जप के द्वारा उनका अच्छा आधार बन चुका था। नाम-जप आदि सगुण

भक्ति मां के समान हैं जो साधक को शुद्ध-बुद्ध कर देती है और ज्ञान रूपी पिता की गोद में स्थान पाने का अधिकारी बना देती है।

सगुण भक्ति माता के सदृश है एवं निर्गुण भक्ति पिता के सदृश है। माता कोमल हृदया होती हैं। उसके पास सहजता से पहुँचा जा सकता है और माँ के माध्यम से पिता तक सरलता से जाया जा सकता है। सीधे पिता के पास पहुँचना कठिन है। क्योंकि पिता कठोर होता है। गन्दे, अधिकारी को वह नहीं स्वीकारता। माँ के पास अधिकारी-अनधिकारी का प्रश्न नहीं है। दुराचारी से दुराचारी पुत्र के लिये माता के हृदय में वात्सल्य होता है। अतः भक्तियोग के सभी अधिकारी हैं। माँ हमारे चित्त को शुद्ध कर देती है, निर्मल कर देती है तब हम पिता की गोद पाने के अधिकारी बन जाते हैं। जब तक हम गन्दे बने रहते हैं तब तक पिता हमें नहीं स्वीकारता। जब माता हमें शुद्ध-बुद्ध कर देती है तब पिता अपना सिंहासन छोड़कर भी हमें अपनी गोद में ले लेते हैं, उसके पूर्व नहीं। अतः पहले माँ की शरण में जायें और माँ के माध्यम से पिता के पास जायें—यही क्रम है और इसी में सफलता है। माँ की उपेक्षा कर के पिता के पास नहीं पहुँच सकते। उदाहरण है तोतापुरी एवं स्वामी विवेकानन्दजी का। ऐसे देखें तो सगुण में विश्वास कठिन है और निर्गुण में उपासना कठिन है। सगुण में विश्वास कठिन है यह आधुनिक युग में तोतापुरी व स्वामी विवेकानन्दजी के उदाहरण से स्पष्ट है।

तोतापुरी निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक थे। मायायुक्त ईश्वर या माया या आद्या शक्ति को वे सर्वथा त्याज्य मानते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव को मां काली की भक्ति करते देखकर उसकी हंसी उड़ाया करते थे। जब तोतापुरी ने कहा मैं तुझे अद्वैत वेदान्त की दीक्षा दूंगा तो उन्होंने कहा मां से आज्ञा लेनी पड़ेगी। उन्होंने सोचा कोई सचमुच की मां होगी। पर जब देखा पत्थर की मूर्ति मां काली से आज्ञा मांग रहे हैं तो उन्हें अचम्भा हुआ और बाल सुलभ प्रयास समझा। तोतापुरी का गठा हुआ लम्बा-चौड़ा पहलवान शरीर था। तीन दिन से अधिक कहीं रुकते नहीं थे। पर यहां श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसा अनोखा शिष्य पाकर 11 माह रुक गये। वे बीमार पड़े। चिकित्सा प्रारम्भ हुई। पर बीमारी बढ़ती गई। तब शरीर त्यागने के लिये रात्रि में गंगा में प्रवेश किया पर डूबने लायक पानी कहीं नहीं मिला। वापस लौट आये। तब रामकृष्ण देव ने कहा आद्या शक्ति (मां) की कृपा के बिना शरीर नहीं त्याग सकते और तोतापुरी को भी आद्या शक्ति मां का आभास हुआ और उसको मानने के लिये बाध्य हुए तथा जगन् माता के प्रति श्रद्धानत हुए। यही हाल स्वामी विवेकानन्द का था। पश्चिमी दर्शन के अध्ययन और ब्रह्म समाज से सम्पर्क के कारण उन्हें निर्गुण-निराकार ब्रह्म की बात समझ में आती थी। सगुण-साकार, सगुण-निराकार या

ब्रह्म शक्ति या आद्या शक्ति की बात समझ में नहीं आती थी। अचानक पिता का देहावसान हुआ। घर में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, प्रतिदिन के भोजन के भी लाले पड़ गये और बहुत प्रयास करने पर भी प्रतिभाशाली नरेन्द्र को एक नौकरी नहीं मिल सकी। हार-थककर रामकृष्ण परमहंस देव के पास पहुँचे और निवेदन किया आपकी बात मां मानती है, मां से प्रार्थना कर मेरे घर का आर्थिक संकट दूर करवाइये। रामकृष्ण देव जी ने कहा तू मां को नहीं मानता है, इस बात की सजा तुझे मिली है। जा आज मां से जो मांगेगा वह तुझे मिलेगा, ऐसा मेरा आशीर्वाद है। मां के दरबार में मां के भव्य दिव्य, चिन्मय रूप को देखकर नरेन्द्र के मुख से यही निकला मां मुझे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य दे, अपने चरणों में स्थान दे, क्या मांगने आया यह भूल ही गया। रामकृष्णदेवजी के दोबारा भेजने पर भी यही स्थिति रही। तिबारा उसे अपने घर की दीनावस्था ध्यान में तो थी पर मां के भव्य-दिव्य चिन्मय रूप के सामने यह बात बहुत तुच्छ प्रतीत हुई और पुनः ज्ञान, भक्ति, वैराग्य ही मांग पाये। तब श्रीरामकृष्ण परमहंस ने आशीर्वाद स्वरूप कहा, जा तेरे घर में मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न रहेगा। इसके पूर्व वे भी मां की सत्ता को मानने के लिये तैयार नहीं थे।

स्वयं सती को संशय होता है राम को सीता के लिये विलाप करते हुए देख करके कि यह प्रभु कैसे हो सकते हैं। रामावतार में इन्द्रपुत्र जयन्त को संशय होता है। स्वयं इन्द्र को राम पर भरोसा नहीं कि वे रावण का वध कर पायेंगे इसलिये सहायता के लिये आगे नहीं आते। गरुडजी को राम-लक्ष्मण को नागपाश में बंधा हुआ देखकर भ्रम हुआ ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं। कभी ब्रह्माजी को संशय होता है, तो कभी इन्द्र को भगवान् श्रीकृष्ण को लीला करते हुए देखकर कि ये प्रभु कैसे हो सकते हैं। धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन, शिशुपाल, जरासंध आदि भी भगवान् श्रीकृष्ण को पहचान नहीं पाये। अतः स्पष्ट है सगुण में विश्वास कठिन है पर उपासना सरल है। क्योंकि इसमें मन को रूप, गुण, लीला, धाम का आधार प्राप्त हो जाता है जिससे मन इनमें सहजतया एकाग्र हो जाता है। निर्गुण उपासना में विश्वास सहज है पर इसकी उपासना कठिन है। क्योंकि निरालम्ब मन इत-उत धावैं।

व्यक्त और अव्यक्त उपासना के आधार पर भक्ति की दो धाराएँ

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल में भारत में मुसलिम शासन के समय अत्याचारों की आँधी में समाज को हताशा निराशा और मानसिक पराधीनता से बचाने के लिये भक्तिकाल का उदय हुआ था। इसमें भक्ति की निम्नलिखित प्रणालियां साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई है।

ज्ञानाश्रयी भक्तिधारा

भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को अपना दार्शनिक आधार बनाकर भक्ति का प्रचार करने वाली यह धारा नानक, कबीर, दादू, रविदास के साहित्य में तरंगित हुई एवं आज के महर्षि मैं ही परमहंस के सन्त साहित्य में तरंगायमान हो रही है। इस धारा को लोग निर्गुण भक्तिधारा भी कहते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने भक्ति की ज्ञानपरक व्याख्या करते हुए लिखा है—

'स्व स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यमिधीयते'

अर्थात्—अपने सच्चे स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है।

भगवान् को जब हम अपनी आत्मा से पर मान लेते हैं तब अपनी आत्मा की अपेक्षा उसमें प्रीति थोड़ी न्यून हो जाती है क्योंकि सबसे अधिक प्रीति अपनी आत्मा के प्रति होती है, उसके बाद अन्य का स्थान है। यह बात याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद से भी स्पष्ट है। अतः एक तरफ तो इष्टदेव को परम आराध्य, वरण योग्य मानना पर उसे आत्मरूप न मानने से इष्टदेव अपने से पर, पराया हो जाने पर पराकाष्ठा की प्रीति का भाजन नहीं बन सकता। वह अपने से पराया बना रहता है। मुख्य स्थान स्वयं अपने को और अपने से थोड़ा न्यून स्थान इष्टदेव को प्राप्त होता है, जिससे उसकी सर्वश्रेष्ठता खंडित हो जाती है। इस प्रकार स्वविरोधी, आत्मविरोधी बात हो जाती है। अतः पहले इष्टदेव को आत्मीय फिर अपने आत्मदेव से अभिन्न कर लेवे।

इस प्रकार अपने आत्म स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति है। कबीर का कथन है—

तेरा साईं तुझ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मृग ज्यों वन वन ढूँढ़े घास।।
ज्यों तिल मांहि तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुझमें जाग सके तो जागि।।

गुरु नानक की वाणी है—

आतम माहि राम राम माहि आतम
चीतसि गुरु विचार।

गुरु तेग बहादुर की वाणी है—

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्वनिवासी सदा अलेपा तोहि संग समाई।।

प्रेमाश्रयी भक्तिधारा—प्रेमाश्रयी भक्ति के लिये भक्त और भगवान् दो अलग-अलग सत्ताओं की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य के बाद आचार्य

रामानुज ने वेदान्त के सूत्रों पर अपना विशिष्टाद्वैत भाष्य लिखा जिसमें उन्होंने अद्वैत ब्रह्म के विशिष्ट गुणों से विभूषित होकर निर्गुण निराकार से सगुण-साकार (अवतार) होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा, जिस प्रकार दूध से दही बन जाने पर दही दूध का विकार होते हुए भी पुनः दूध नहीं बन सकता। उसी प्रकार जीव ईश्वर का अंश एवं ईश्वर से पैदा होते हुए भी वह पुनः ब्रह्म नहीं बन सकता। वह भक्ति (उपासना) द्वारा परमेश्वर के निकट आसन प्राप्त कर सकता है, ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर प्राप्ति का महानन्द पा सकता है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन में ही भक्ति का स्थान बनाया। उन्हीं रामानुजाचार्य की परम्परा में 16वीं शताब्दी में रामानन्द हुए जो मूलतः दक्षिण भारतीय परिवार के ही थे किन्तु उनका काशी कर्म क्षेत्र बन गया। वे कबीर, रविदास, गुरु नानक के सत्संगी एवं गोस्वामी तुलसीदास के महान् प्रेरक बने। उन्होंने रामभक्ति की ऐसी अलौकिक धारा बहायी जिससे सारा भारतीय समाज और साहित्य जाने-अनजाने में राममय हो गया। इस प्रकार कहा जाता है भक्ति द्रविड़ में उपजी अर्थात् भक्ति द्रविड़ देश में पैदा हुई। प्रेमाश्रयी शाखा के पुनः दो रूप हुए एक भारतीय प्रेमाश्रयी शाखा में प्रेमाभक्ति और दूसरी सूफी परम्परा के फारसी साहित्य से प्रभावित प्रेमाभक्ति। भारतीय परम्परा में परमेश्वर को प्रियतम मानने की परिपाटी है। इसके विपरीत फारसी साहित्य में कवि अपने आपको आशिक (प्रियतम) तथा परमेश्वर को माशूका (प्रियतमा) मानकर भाव प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि फारसी का अधिकांश साहित्य इश्के मिजाजी (लौकिक प्रेम) के रूप में है। बाद में इसकी व्याख्या इश्के हकीकी (अलौकिक प्रेम) के रूप में होने लगी। इसलिये उनके साहित्य में परमेश्वर प्रेमी न होकर प्रेमिका ही रह गया है। जबकि भारतीय परम्परा में भगवान् प्रियतम हैं, प्रेमी हैं और सारे संसार के जीव उसकी किंकरिया या प्रेमिका है। इस सन्दर्भ में सनातन रूप गोस्वामी और मीराबाई का वृन्दावन का प्रसंग स्मरण करें। हिन्दी साहित्य में मलिक मोहम्मद जायसी के कुतबन मज्झन आदि ने इसी प्रकार का सूफी प्रणाली का भक्ति साहित्य लिखा।

भारतीय सगुण भक्तिधारा आगे चलकर दो शाखाओं में विभाजित हो गयी। राम भक्ति शाखा जिसके सबसे महान् भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए हैं। कृष्ण भक्ति शाखा जिसके प्रेरक श्री चैतन्य महाप्रभु एवं महाप्रभु वल्लभाचार्य हुए तथा सूरदास, मीरा, नन्ददास, कृष्णदास, रहीम, रसखान आदि कवियों ने इस कृष्ण भक्ति शाखा में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाकर खिलाये।

व्यक्त-अव्यक्त में घनिष्ठ सम्बन्ध है

हम सनातन धर्मी भगवान् को तीन रूपों में प्रस्तुत करते हैं। भगवत् तत्त्व तो एक ही है लेकिन तीन रूपों में उसकी मीमांसा की जाती है। उपाधि के योग से भगवान् के दो रूप और एक रूप बिना उपाधि के स्वतःसिद्ध होता है। एक भगवान् है निर्गुण-निराकार। स्वतः तो भगवान् है निर्गुण निराकार। वही अचिंत्य लीला शक्ति के योग से सगुण-साकार और सगुण निराकार भी होते हैं। तो हम सनातन धर्मी भगवान् को जहाँ निर्गुण निराकार मानते हैं वहाँ सगुण निराकार और सगुण-साकार भी मानते हैं। इसमें दृष्टान्त विद्युत् का लेवें। इसमें जो बिजली है वह तीन प्रकार की है। एक बिजली निर्गुण-निराकार है। एक बिजली सगुण निराकार है और एक बिजली सगुण साकार है। निर्गुण निराकार बिजली कौन-सी है? जल-थल-नभ में जो व्यापक विद्युत् है वह निर्गुण निराकार है। अब निर्गुण क्या है? यह पुरी के महाराज की बनायी हुई परिभाषा है जो शास्त्र सम्मत है। निर्गुण उसको कहते हैं जिसकी विद्यमानता तो है, अस्तित्व तो है लेकिन जिसका व्यवहार रूप न हो, जिसकी अर्थक्रियाकारिता अभिव्यक्त न हो। हमारे लिये अनुकूल या प्रतिकूल सिद्ध न हो रही हो। विद्यमानता सिद्ध हो रही है प्रमाणों के द्वारा उसको निर्गुण कहते हैं। और निराकार किसको कहते हैं? आकार का अर्थ है रूप। निरूप को कहते हैं निराकार। जो नेत्र का विषय न हो। जिसको नेत्रों से निहारा जाना सम्भव न हो उसका नाम है निराकार। तो जल-थल और नभ में व्यापक विद्युत् है वह कौन-सी विद्युत् है—निर्गुण-निराकार।

अब हम नैयायिकों के असत् कार्यवाद को लेकर और शून्यवादी बौद्धों के असत्कारणवाद को लेकर एक पूर्व पक्ष प्रस्थापित करते हैं। अरे भाई, ऐसी बिजली को मानने की क्या आवश्यकता है? ऐसी बिजली जिसकी कोई उपयोगिता हमारे जीवन में चरितार्थ नहीं है, जो नेत्रों का विषय नहीं है, ऐसी बिजली को आखिर मानते क्यों है?

इसका उत्तर यह है यदि तिल में तेल नहीं हो तो कोटि-कोटि यांत्रिक-मांत्रिक, तांत्रिक विद्याओं का आलम्बन लेकर भी कोटि-कोटि कल्पों में भी तिल को मथकर तेल की प्राप्ति नहीं कर सकता है। बालू को मथ करके कोटि-कोटि कल्पों में भी कोटि-कोटि यान्त्रिक, मान्त्रिक, तान्त्रिक विद्याओं का आलम्बन लेकर कोई तेल की प्राप्ति कर सकता है क्या? जल को मथकर कोई मक्खन को प्राप्त कर सकता है क्या? जल को मथकर कोई घी को प्राप्त कर सकता है क्या? कदाचित् इसी प्रकार जल और थल में व्यापक विद्युत की विद्यमानता ही न होती तो कोटि-कोटि तान्त्रिक-मान्त्रिक यान्त्रिक विद्याओं का आलम्बन लेकर

भी कोटि-कोटि कल्पों में कोई विद्युत प्राप्त नहीं कर सकता। चूंकि विद्युत् की उपलब्धि होती है अतः निर्गुण-निराकार विद्युत् को मानना आवश्यक है।

दूसरी बिजली कौन-सी है? सगुण-निराकार। इस माइक नामक यंत्र में, पंखे में, टीवी में, रेफ्रीजेटर आदि में जो विद्युत् काम कर रहा है वह सगुण-निराकार है। सगुण का अर्थ है जिसकी अर्थक्रियाकारिता व्यक्त हो, जो हमारे लिये लाभप्रद या हानिप्रद हो, हमारे लिये अनुकूल या प्रतिकूल हो वह है सगुण। और निराकार कौन है? जो आँखों का विषय न हो। माइक आदि में जो विद्युत् काम कर रही है वह सगुण-निराकार है। करेन्ट लगने पर जो मार डालती है या घायल कर देती है वह विद्युत् सगुण-निराकार है।

और एक बिजली सगुण-साकार है। सगुण भी है और नेत्रों का विषय भी है। यह बल्ब के माध्यम से, बादल के माध्यम से पेड़ों के माध्यम से जिस विद्युत् का दर्शन होता है वह विद्युत् सगुण-साकार है।

तो बिजली भी तीन प्रकार की हुई। एक बिजली निर्गुण-निराकार। दूसरी बिजली सगुण-निराकार, तीसरी बिजली सगुण-साकार। विद्युत् तत्त्व तो एक है लेकिन उसका निरूपण, विश्लेषण, वर्गीकरण तीन रूपों में होता है—एक निर्गुण-निराकार एवं सगुण-निराकार और एक है सगुण-साकार। यह तो हुआ दृष्टान्त। द्राष्टान्तिक में भगवत तत्त्व भी तीन प्रकार का है। एक निर्गुण-निराकार भगवान्, एक सगुण-निराकार भगवान् और एक सगुण-साकार भगवान्। स्वयं में भगवान् या परमसत्ता निर्गुण-निराकार, निर्विकार है। इसमें उदाहरण है सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) स्वरूप जो परमात्म तत्त्व है। वह सजातीय, विजातीय स्वगत भेद शून्य देशकृत काल कृत वस्तु कृत परिच्छेद विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप जो परमात्म तत्त्व वह कौन-सा है वह निर्गुण-निराकार। निर्गुण-निराकार भगवान् का निरूपण करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता।। मानस 1/116/3

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीहबिरज अविनासी।।
व्यापक, एक ब्रह्म अबिनाशी। सत चेतन घन आनंद रासि।। मानस 1/22/3

इन सब वचनों के द्वारा तुलसीदासजी ने निर्गुण-निराकार भगवत तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

दूसरा परमात्म तत्त्व का रूप है सगुण-निराकार। निराकार तो है लेकिन सगुण हो गया है। परम सत्ता स्वयं में तो निर्गुण निराकार निर्विकार है। पर जब उसमें इक्षण क्रिया होती है 'एकोऽहम् बहुश्याम्' एक से बहु होने की इच्छा होती है तब

वह सगुण-निराकार हो जाता है। बिना सगुण-निराकार हुए वह सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर निमित्त कारण तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक वह व्यापक होता हुआ प्रज्ञावान, इच्छावान और प्रयत्नवान न हो, अर्थात् सगुण-निराकार न हो। इसके बिना वह प्रकृति या परमाणुओं को जगत् का रूप नहीं दे सकता और जो ईश्वर को जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं वे भी ईश्वर को सगुण-निराकार मानते हैं। अतः यह एक दार्शनिक रहस्य है कि संसार के सब ईश्वरवादी ईश्वर को साकार मानें या न मानें, सगुण-निराकार मानने के लिये बाध्य हैं। यह सार्वभौम सिद्धान्त है। ऐसे परमात्मा का नाम वृहदारण्यक उपनिषद् में अन्तर्यामी है। गीता में आया है—ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति। 18/61 अर्थात् ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है। यह अन्तर्यामी का वर्णन है। तुलसीदासजी ने इसका अनुवाद किया—उमा दारू जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं।। मानस 4/10/4 यह कहकर तुलसीदासजी ने सगुण-निराकार परमात्मा का प्रतिपादन किया है।

यही सगुण-निराकार परमात्मा जीवों पर करुणा कर उसके उद्धार के लिये, दुष्टों के दमन के लिये, धर्म संस्थापन के लिये, लुप्त ज्ञान की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये अपनी आत्ममायया का आलम्बन लेकर स्वयं को सगुण-साकार के रूप में प्रकट करते हैं—राम, कृष्ण, राधा, भगवती सीता, शिव, पार्वती ये सब सगुण-साकार परमात्मा हैं। इसी बात को तुलसीदासजी कहते है–

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।
मानस 1/120/4

अतः भगवान् एक होते हुए भी तीन प्रकार के मान्य हैं। इस प्रकार भगवान् सगुण-निर्गुण उभयविध है। लीला शक्ति के योग से भगवान् अचिंत्य, अनन्त दिव्यातिदिव्य गुण गण निलय होते हैं, करुणा वरुणालय होते हैं, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले एवं दुष्टों का दलन करने वाले होते हैं। और साथ ही साथ गुणमय भावों से अतीत, प्रकृति के भी पार प्रभु अपने-आप में निर्गुण-निराकार होते हैं पर भक्तों पर कृपा करने के लिये, अकृतार्थ जीवों पर कृपा करने के लिये, उनको पुरुषार्थ भूमि प्रदान करने के लिये सृष्टि रचना के लिये सगुण-निराकार और भक्तों पर साक्षात् कृपा करने के लिये स्वयं की योग माया का आश्रय लेकर स्वयं को सगुण-साकार रूप में प्रकट कर देते हैं। राम-कृष्ण के रूप में प्रकट कर देते हैं। गीता के चौथे अध्याय के एक ही श्लोक में अपने तीनों रूपों का प्रतिपादन किया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। 4/6

मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी, तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी (योग) माया के द्वारा प्रकट होता हूं।

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' मैं जन्म रहित हूँ, अज हूँ और अव्यय आत्मा कहकर अपने निर्गुण-निराकार स्वरूप का परिचय दिया है। 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' ऐसा कहकर भगवान् ने अपने सगुण-निराकार रूप का प्रतिपादन किया है। मैं प्राणियों का नियामक हूँ, ईश्वर हूं, और प्रकृति को भी वश में रखने वाला हूँ। प्रकृति के वश में होने वाला नहीं हूँ। यहाँ भगवान् ने सगुण निराकार अन्तर्यामी स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब भगवान् का एक रूप है सगुण-साकार। उसके लिये भगवान् ने कहा 'संभवाक्यात्ममायया' जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं' मैं आत्ममायया से राम-कृष्णादि रूपों में अभिव्यक्त होता हूं, स्फुरित होता हूँ, प्रकट होता हूँ ऐसा कहकर भगवान् ने अपने सगुण-साकार रूप का प्रतिपादन किया। इस प्रकार भगवान् के तीन रूप हो गये।

13वें अध्याय के 17वें श्लोक में भगवान् के दो रूपों का वर्णन हुआ है—'ज्योतिषामपि तज्ज्योति' वह ज्योतियों की ज्योति कहकर निर्गुण निराकार परमात्मा और 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' ईश्वर सर्वभूतों के हृदय में स्थित है कहकर सगुण-निराकार परमात्मा का प्रतिपादन हुआ है।

भगवत तत्त्व तो मूलतः एक ही है, अपने आप में निर्गुण-निराकार है। पर उपाधि के योग से दो रूप और हो जाते हैं। इसके अभाव में न परमात्म तत्त्व के अस्तित्व का ही बोध होगा और न ही उसकी उपादेयता ही चरितार्थ होगी। जैसे विद्युत् तत्त्व स्वयं में निर्गुण-निराकार है। यदि वह सदैव निर्गुण-निराकार ही बनी रहे तो, न तो उसके अस्तित्व का ही बोध होगा और न हम आप के लिये उपादेय ही सिद्ध होगी। वैसे ही अग्नि सदैव अपने मूल रूप में, अव्यक्त रूप में बने रहे तो न तो अग्नि के, अस्तित्व का ही बोध होगा और न अग्नि तत्त्व की कोई धारणा करने में ही समर्थ होगा। अग्नि का स्वरूप लक्षण है दाहक और प्रकाशक होना। तो अग्नि दाहक और प्रकाशक है। पर किसी ने आज तक घर्षण के द्वारा अग्नि को व्यक्त ही नहीं किया होता, केवल ग्रन्थों में यह लक्षण लिखा रहता कि अग्नि तत्त्व दाहक और प्रकाशक है तो अनुभूति का विषय बनता क्या? स्वरूप लक्षण भी अभिव्यक्त दशा में ही व्यक्त होता है। माना कि अग्नि दाहक और प्रकाशक होता है जब घर्षण के द्वारा उसको साकार किया जाता है तब उसके द्वारा दाह और प्रकाश की प्राप्ति होती है और हमारे प्रयोजनों की सिद्धि होती है यथा हम इसमें भोजन पका सकते हैं, शीत का निवारण कर सकते हैं, प्रकाश पा सकते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि स्वरूप लक्षण की अभिव्यक्ति भी साकार हुए बिना नहीं

हुई। जब तक अग्नि को घर्षण के द्वारा व्यक्त या प्रकट नहीं किया गया तब तक अग्नि दाहक है और प्रकाशक है इसका न तो अनुभव ही होगा और न ही उसकी धारणा होगी। उसके लिये तो अग्नि को व्यक्त करना होगा। अन्यथा अंधे के लिये दूध टेढ़ी खीर के सदृश होगी।

इसलिये तुलसीदासजी कहते हैं—

सब घट मेरे साइया सूनी सेज न कोय।
बलिहारि वा घट की जो घट परगट होय।।

बर्फ में पानी विद्यमान है, बिजली में शक्ति विद्यमान है, जीव में ईश्वर विद्यमान है पर जब वह प्रकट होता है तब पूजा जाता है। व्यापक विद्युत् निर्गुण-निराकार है। उसका अस्तित्व तो है पर उसकी उपलब्धि नहीं होती और न ही उसकी उपयोगिता व्यावहारिक जीवन में सिद्ध होती है और न ही अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव ही जीवन में परिलक्षित होता है और न नेत्रों का ही विषय बनता है। भले ही वह जल, थल, नभ में व्याप्त हो। उसके अस्तित्व की अनुभूति करने के लिये, उसकी उपयोगिता प्राप्त करने के लिये उसको प्रकट करना आवश्यक है। वैसे ही हम-आप-सभी के अन्दर में निर्गुण-निराकार रूप में ईश्वर या आत्मा विद्यमान है पर वह सोया हुआ है, अप्रकट है। उसे जाग्रत करना, प्रकट करना यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसी के लिये सब प्रकार की साधनाएँ हैं। ऋषि अरविन्दजी की सारी साधना सारा प्रयास तो इसी बात के लिये था। वह Divine life न केवल अपने जीवन में अवतरित हो वरन् सम्पूर्ण सृष्टि में भी उसका अवतरण हो इसी के लिये सारा जीवन स्वयं सचेष्ट रहे एवं अपने पश्चात् अन्य साधकों को भी इसी कार्य में प्रेरित एवं नियोजित कर गये।

भगवान् तो मूल रूप में निर्गुण-निराकार ही हैं। पर राम-कृष्णादि के रूप में व्यक्त न होते तो उनके सम्बन्ध में संशय-विपर्यय बना ही रहता। अतः अपने अस्तित्व की सिद्धि के लिये अवतार लेना आवश्यक है।

आर्य समाजी—सगुण-साकार मानने पर भगवान् का शरीर भी भौतिक होने से नाशवान सिद्ध हो जायेगा। उनकी भावना यह है कि भगवान् हमारे जैसे विकारी और नश्वर सिद्ध न हो जाय। पर हमारा आपका शरीर कर्मफल का परिणाम है या अविद्या काम कर्म का परिणाम है, अतः भौतिक एवं नश्वर है। पर भगवान् का विग्रह अविद्या काम कर्म का परिणाम नहीं है अतः न अवतार विग्रह भौतिक ही है और न नश्वर ही है। भगवान् के जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य हैं। गीता में आया है—जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं। 4/9

वे तो अचिंत्य लीला शक्ति का अवलम्बन लेकर अवतार विग्रह धारण करते हैं और उसका प्रयोजन पूर्ण होने पर अपने को तिरोहित कर लेते हैं। अपनी लीला संवरण कर लेते हैं।

निराकार ही तो साकार होता है। हर साकार का मूल निराकार होता है। हर सगुण मूल रूप में निर्गुण ही होता है। जगत् साकार है। जगत् बनने के पूर्व निराकार था। जीव भी निराकार है। हर आत्मवादी किसी-न-किसी रूप में जीव को निराकार ही मानता है।

जिस परमात्मा में नाम-रूपात्मक जगत को उत्पन्न करने की शक्ति सन्निहित है। जो निराकार जीव को शरीर प्रदान कर साकार बना देता है। तब क्या वह स्वयं को सगुण-साकार रूप में प्रकट नहीं कर सकता है क्या? भगवान् तो 'कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम' याने सर्व समर्थ हैं। अतः वह स्वयं को भी साकार रूप में प्रकट कर सकते हैं।

महर्षि दयानन्द एक संत के पास सत्संग के लिये पहुँचे। पर उन्हें शिव के पार्थिव लिङ्ग की पूजा करते देखकर वापस लौटने लगे तो संत ने कहा, तुम्हें मूर्ति से इतनी नाराजगी है तो तुम स्वयं मूर्ति धारण करके क्यों आये हो? और जब मूर्ति पर चिढ़कर जा रहे हो तो फिर अपनी मूर्ति को छोड़कर जाओ। तब महर्षि दयानन्द उस सन्त के प्रति नतमस्तक हो गये।

जीव के भी तीन रूप

(1) हम-आप को माता-पिता की कृपा से जो सप्तधातुमय स्थूल शरीर प्राप्त होता है वह सगुण साकार है। (2) हमारा सूक्ष्म एवं कारण शरीर अतीन्द्रिय होने से सगुण निराकार है (3) और आत्मा निर्गुण-निराकार है।

हमारी जाग्रत अवस्था सगुण-साकार है क्योंकि इसमें हमें स्थूल देह प्राप्त रहता है। स्वप्नावस्था में भी सगुण-साकार भूमि है क्योंकि इसमें भी वासनात्मक मनोमय स्थूल देह प्राप्त रहता है।

सुषुप्तिवस्था में न व्यावहारिक स्थूल शरीर और न ही वासनात्मक मनोमय स्थूल देह यानी दोनों में किसी भी शरीर की प्राप्ति नहीं है। इसमें जीव अविद्या तादात्म्यापन्न रहता है। यानी केवल कारण शरीर रहता है। कारण शरीर अविद्या है। अविद्यावस्था सगुण-निराकार है।

समाधिवस्था में जीव अपने मूल रूप, शुद्ध रूप आत्म-स्वरूप में अवस्थित होने से निर्गुण-निराकार है।

अब जीव को अपनी स्थिति के आधार पर भगवान् के तीन रूपों में से किसी एक स्थिति को स्वीकारना चाहिये। अगर हमारी स्थिति स्थूल शरीर में है तो हमें

अपना इष्ट सगुण-साकार चुनना चाहिये। अगर हमारी स्थिति सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर में है तो अपना इष्टदेव सगुण-निराकार चुनना चाहिए, यानी हम मन-बुद्धि, अहंकार को ही महत्त्व देने वाले हों, उसे आत्मा समझने वाले हैं तो अपना इष्ट भी सगुण-निराकार चुनना चाहिये। अन्यथा निरालम्ब मन इत-उत धावै वाली स्थिति होगी।

और अगर हमारी स्थिति शुद्ध आत्मा में है तभी हमें निर्गुण-निराकार इष्ट को चुनना चाहिये।

अब सगुण भगवान के पाँच रूप हैं—

भगवती शक्ति—शक्ति के भक्तों को शाक्त कहा जाता है।

भगवान् शिव—के भक्तों को शैव कहा जाता है।

भगवान् गणेश—के भक्तों को गाणपत्य कहा जाता है।

ये तीन तो एक ही घर के हो गये। शक्ति दुर्गा भगवती आदि रूपों में आ गयी, गणेश उनके लाला बनकर एवं शिव पति बनकर आ गये। इस तरह ये तीनों एक ही परिवार के हैं। विष्णु भगवान् के भक्तों का नाम है वैष्णव। विष्णु शिव के आत्मस्वरूप हो गये।

सूर्य भगवान—के भक्तों को सौर कहा जाता है।

सूर्य भगवान् शिवजी के नेत्र स्वरूप हैं। अतः एक शिवजी को अपनाने से पाँचों देव आ जाते हैं।

अब जिसको भी अपनाओ एक ही तत्त्व है। हमने यह बताया सगुण-साकार भगवान् के यह पाँच भेद हैं। और एक पते की बात है इन पाँचों का सगुण-निराकार रूप एक ही होता है। सगुण-निराकार भूमि में पाँचों इष्टदेवों में कोई विभाजक रेखा नहीं है। और निर्गुण-निराकार भूमि में भी कोई विभाजक रेखा नहीं है। यानी सगुण-निराकार रूप और निर्गुण-निराकार रूप सबका एक ही है। जैसे सोने के या अष्टधातु के पाँच देवता बनाये गये हैं। तब बताइये मूल में कोई भेद है क्या? दीपावली के अवसर पर शक्कर के ही देवता, बाबा, साँप, बिच्छू आदि सब बनते हैं या नहीं, पर सबका मूल मैटर तो एक ही है। इस प्रकार सगुण-साकार भूमि में पांच भेद है या और भी अनेक भेद हो सकते हैं पर पांचों देवता का सगुण-निराकार रूप और निर्गुण-निराकार रूप एक ही है। यानी शिवजी का जो सगुण-निराकार रूप है वही शक्ति का सगुण-निराकार रूप है। वही गणेश, विष्णु, सूर्य भगवान् का भी सगुण-निराकार रूप, एक ही है। शिवजी का जो निर्गुण-निराकार रूप है, अन्य चारों का भी वही निर्गुण-निराकार रूप है। इस प्रकार मूलतः पाँचों में भेद नहीं है।

अब पाँचों देवताओं के सहस्रनाम इकट्ठा कर लेवें। शिवजी के सहस्रनाम, शक्ति के सहस्रनाम, गणेशजी का सहस्रनाम, विष्णु भगवान् के सहस्रनाम, सूर्य भगवान् के सहस्रनाम। अब उनमें देखेंगे तो बहुत से नाम आपको एक ही मिलेंगे। क्यों मिलेंगे? क्योंकि सगुण-निराकार एवं निर्गुण-निराकारपरक जो पाँचों देवताओं के नाम हैं उनमें कोई विभाजक रेखा नहीं है। इस प्रकार तत्त्व एक ही हुआ। अब सगुण-साकार रूप में भेद कहाँ से आ गया? नाम को लेकर, रूप को लेकर, लीला को लेकर, धाम को लेकर सगुण-साकार के धरातल पर पाँचों देवताओं में भेद आ गया। सभी के नामरूप अलग-अलग हैं, लीलाओं में भी कुछ विलक्षणता है। फिर धाम, अभिव्यक्ति स्थान में भी अन्तर है। राम अवध विहारी हैं, तो कृष्ण वृन्दावन विहारी हैं। तो अभिव्यक्ति स्थान में भेद है। अब देवों के विराट रूप में भी कोई भेद नहीं है। भागवत में भगवान कृष्ण के विराट रूप का वर्णन कई बार आया है। रामचरितमानस में भगवान् राम के विराट स्वरूप का वर्णन कई बार आया है उत्तरकाण्ड आदि में। इस प्रकार भगवान का सगुण-साकार रूप भी दो तरह का होता है। यह जो विराट रूप है यह भी सगुण-साकार रूप है या नहीं। 'सर्वं खल्लिविदम् ब्रह्म', वासुदेव सर्वमिति, सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि युग पानी।। मानस 1/7/2

जड़ चेतन गुण दोषमय सृष्टि कीन्ह करतार

और सकल राममय जान—

इसका अर्थ क्या हुआ? सगुण-साकार भगवान् भी दो तरह के होते हैं। यह जो विराट रूप है यह भी भगवान् का सगुण साकार रूप है। इस विराट रूप के धरातल पर भी कोई भेद नहीं है। भेद केवल अवतार विग्रह को लेकर है। तो प्रश्न है पाँच प्रकार के भगवान् क्यों हो गये? इसलिये हो गये क्योंकि पाँच प्रकार के भूत हैं—5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, अन्तःकरण पंचक। सब 5-5 प्रकार के हैं तो भगवान् भी सगुण-साकार भूमि में पाँच प्रकार के हो जाते हैं।

फिर अभिरुचि और अधिकार भेद को देखकर भी हमारे यहाँ भगवत तत्त्व को पाँच रूप में अभिव्यक्त किया गया है। उसमें भी फिर अनेक भेद हैं।

अब गणेश पुराण पढ़ेंगे तो गणेशजी के ही सैकड़ों प्रकार के अवतार का वर्णन होगा, शिवपुराण पढ़ेंगे तो शिवजी के अनेक अवतारों का वर्णन होगा। हनुमानजी आदि सब शिवजी के अवतार निकल आवेंगे। भगवान् विष्णु का पुराण पढ़ेंगे तो उनके दशावतार। शक्ति का अवतार मार्केण्डय पुराण, देवी भागवत, दुर्गा सप्तशती आदि में। सूर्य सम्बन्धी पुराणों में सूर्य के अनेक अवतारों का वर्णन होगा।

यह आलोचना की जाती है कि हिन्दू अनेकेश्वरवादी है, अनेक देववादी है। अरे हमारे यहाँ यह भूषण है, दूषण नहीं है। एक देववाद, अनेक देववाद, एकेश्वरवाद, अनेकेश्वरवाद किसके यहाँ दूषण है, किसके यहाँ भूषण है इस पर विचार करना चाहिये। जिसके यहाँ जगत का केवल निमित्त कारण ईश्वर है, उपादानकारण ईश्वर नहीं है, उनके यहाँ अनेकेश्वरवाद कलंक है, दूषण है। जिसके यहाँ भगवत तत्त्व न केवल निमित्त अपितु उपादानकारण है, उनके यहाँ अनेकेश्वरवाद भूषण है, क्योंकि मूल में तो अनेक है ही नहीं। मूल में तो एक ही है। सदैव सोम्यः इदम अग्रआसीत एकमेवाद्वितीयम। मूल में सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य परमात्म तत्त्व है। मूल में जब एक है तो अनेक की सिद्धि तो तत्त्वतः नहीं होती। हमारे यहाँ जो अनेक देववाद की प्रतीति हो रही है वह भूषण है। लेकिन जिनका ईश्वर केवल निमित्त कारण है, उपादानकारण कोई और है उनके यहाँ मूल में तो द्वैत है। द्वैत की परिभाषा क्या है? दो या दो से अधिक का नाम द्वैत है।

तो जिनके यहाँ मूल में ही अद्वैत नहीं है वह एकेश्वरवाद माने तो भी उनका ईश्वर एक नहीं है क्योंकि निमित्त और उपादानकारण अलग-अलग हैं। उनके यहाँ तो वैकल्पिक एकेश्वरवाद है। हमारे मूल में ही एक ईश्वर है भगवद् तत्त्व है, इसलिये अनेकवाद हमारे यहाँ कलंक नहीं है। अनेकेश्वरवाद या ईश्वरवाद हमारे यहाँ प्रातीतिक है वस्तुतः एक ही है। तो हमने कहा भगवत तत्त्व एक है जैसे विद्युत् एक है, लेकिन निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार, सगुण-साकार तीन रूपों में इसका चित्रण होता है। उपाधि रूप सगुण और साकार है बिजली का, अनोपाधिक रूप स्वाभाविक रूप निराकार है बिजली का। इसी प्रकार भगवान् का स्वाभाविक रूप निर्गुण-निराकार है। सगुण-साकार उपाधि रूप है। इसी में भेद है। सगुण-साकार का जो विराट रूप है यथा गणेश, शक्ति, सूर्य, विष्णु, शिव का जो विराट रूप है, उसमें भी कोई विभाजक रेखा नहीं है। सगुण-निराकार अन्तर्यामी भूमि में भी पाँचों देवता का स्वरूप एक ही है। और निर्गुण-निराकार भूमि में भी पाँचों देवताओं में कोई विभाजक रेखा नहीं है। केवल सगुण-साकार भगवान एक अवतार विग्रह में नाम, रूप, लीला, धाम में भेद आ जाता है, किन्तु तत्त्व में कोई भेद नहीं रहता।

सगुण-निराकार अन्तर्यामी भूमि में ईश्वर की अवस्थिति है। ईश्वर शब्द ईश धातु से बना है। जिसका अर्थ है ईश्न करने वाला, शासन करने वाला। ईश या ईश्वर का अर्थ है सृष्टि का शासक। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों का शासन भिन्न-भिन्न देवों के अधीन माना जाता है। जैसे वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर, इन्द्र आदि देवता भिन्न-भिन्न शक्तियों के स्वामी हैं। किन्तु इन देवताओं का भी ईश्न

करने वाला जो देवाधिदेव है उसे परमेश्वर (परम+ईश्वर) अर्थात् सबसे बड़ा शासनकर्ता कहा जाता है।

कई पश्चिम के भ्रमित विचारक यह भ्रान्ति फैलाते हैं कि भारतीय दर्शन में या हिन्दू धर्म में बहुदेववाद है। इसकी तुलना में वे ईसाई एवं इस्लाम पंथ के एकेश्वरवाद को अधिक श्रेष्ठ सिद्धान्त बताते हैं। वास्तव में विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में बार-बार एक ब्रह्म, एकेश्वरवाद, एकात्मवाद अथवा एकतत्त्ववाद का निरूपण किया गया है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति –ऋग्वेद

एकोदेवा सर्वभूतेषु गूढ़ाः। 6/11 श्वेताश्वर उ.

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा। 2/2/12 कठ उ.

शान्तम् शिवम् अद्वैतम्। 7 माण्डूक्योपनिषत्

एकोब्रह्मद्वितीयोनास्ति।

वास्तव में एक तत्त्व की सर्वोच्च सत्ता को मानकर उसी के अधीन नानाविध विभागों के भिन्न-भिन्न देव हैं। परमेश्वर से भिन्न या विरोधी सत्ता किसी देव की हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार देश का सर्वोच्च शासक राष्ट्रपति है उसके अधीन भिन्न-भिन्न विभागों (रेल, डाक, तार, वित्त, ऊर्जा आदि विभागों के) मन्त्री काम करते हैं। यदि हमें रेल विभाग से काम हो तो हमें रेल मन्त्रालय जाना चाहिये न कि राष्ट्रपति भवन में, यदि उद्योग का काम है तो उद्योग मन्त्रालय में, वित्त का काम हो तो वित्त मन्त्रालय में जाना चाहिये। अन्य धर्मों में ईश्वर के अधीन कार्यों के विभाग बंटे हुए नहीं हैं, इसलिये नून, तेल, लकड़ी से लेकर भक्ति, शक्ति और मोक्ष तक सब विभागों के काम एक अल्लाह या God के माथे मढ़े हुए हैं। यदि लोक व्यवहार में म्युनिसिपलिटी की, प्रदेश की समस्याएं, न्यायालय के सब विवाद, उद्योग-ऊर्जा-वित्त व खाद्य के सब आवेदन राष्ट्रपति के माथे मढ़ दिये जायें तो राष्ट्रपति पागल हो जायेगा और देशों में अव्यवस्था फैल जायेगी। साधारण कर्मचारी डाकिया या सिपाही तक भी जिस सत्ता से काम कर रहा है वह राष्ट्रपति से ही प्राप्त हुई है। कर्तव्य के समय सिपाही का तिरस्कार भारत सरकार का तिरस्कार माना जाता है। नौकरी से अलग हो जाने पर उसको प्राप्त राष्ट्रपति की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार सब देवों का विभाग अलग-अलग होते हुए भी उनकी शक्ति का मूल एक परमेश्वर ही है। मूल में एकता तूल में अनेकता। वह एक ही अपने को अनेक रूपों में प्रकट करता है। हिन्दू धर्म के इस एकात्मवादी बहुदेववाद को मैक्समूलर Henotheism कहते हैं। इसका भाव यह है कि वह एक परमेश्वर सृष्टि संचालन के लिये नाना रूपों

में भास रहा है। वेद के अनेक मन्त्रों में सब देवों की मूलभूत एकता को स्पष्ट किया गया है।

मूल में एक ही सत्ता है। उसी का चित्रण या वर्णन तीन प्रकार से किया जाता है।

एक शुद्ध ब्रह्म है जो कार्य-कारण से अतीत है। दूसरा है ईश्वर जो ईक्षण करता है। 'एकोऽहम् बहुश्याम्' इसको कारण ब्रह्म कहते हैं। सृष्टि के संचालन के लिये नानाविध देवता है उसे कार्य ब्रह्म कहते हैं।

अब जिस देव की पूजा करते हैं, उसको ऊँचा स्थान देने के लिये हम कारण ब्रह्म में बैठा देते हैं और अन्य देवों को कार्य ब्रह्म में। यही कारण है कि शिव पुराण में शिव, विष्णु पुराण में विष्णु, देवी भागवत में शक्ति को, ऊँचा यानी कारण ब्रह्म के रूप में प्रतिपादन किया जाता है एवं अन्य को कार्य ब्रह्म के रूप में। इस प्रवृत्ति को ही मैक्समूलर ने हिनोथीज्म Henotheism कहा है।

वस्तुतः तो हमने सर्वोच्च सत्ता को एक कहने में या अपने विचार को एकेश्वरवाद कहने में भी संकोच का अनुभव किया। क्योंकि गम्भीर चिन्तन करने पर पता चलता है कि उसे एक कहने में भी हम उसे सीमाबद्ध कर रहे हैं। एक मनुष्य द्वारा आविष्कृत गिनती का प्रथम अंक है। उस अनादि अनन्त परम तत्त्व को यदि मनुष्य अपनी सीमित वाणी से गिन सके तो यह असीम का अपमान होगा और एक की कल्पना भी उसे अनेकता से अलग एक स्थूल वस्तु जैसा एक बना देगी। वास्तव में वह अनेक में एक वस्तु बना देगी। जब वह सब कुछ है, तब उसे एक कहने में सीमा का बंधन बन जायेगा। यदि उसे दो कह दें तो परमतत्त्व का अपमान होगा क्योंकि उसकी तुलना करने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। इसलिये भगवान् शंकराचार्य ने और उससे पहले वेद ने भी परमतत्त्व को अद्वैत कहा 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्। तो उसे अद्वैत, अनन्त आदि नामों से समझाया गया है। वह अनन्त मन-वाणी से परे है। उसका बखान नहीं हो सकता।

गुरु नानक देवजी कहते हैं—

कथना कथी ना आवे तोटि।
कथी-कथी कथी कोटि कोटि कोटि।।

अर्थात् करोड़ों-करोड़ों जबानों से करोड़ों-करोड़ों युगों तक उसका कथन करता रहे फिर भी उसका कोई पार नहीं पा सकता। इसलिये वेद के ऋषि भी अन्त में हार मानकर नेति-नेति कहते हैं, अर्थात् हमने जिस ब्रह्म का बखान किया है वो वाणी तक सीमित नहीं है, वाणी के बंधन में नहीं है। वाणी के कथन में आ नहीं सकता और जितना हमने वर्णन किया है उतना मात्र ही नहीं है। मुनियों ने जब

अपनी आत्मानुभूति की प्रसादी वाणी द्वारा मानव कल्याण के लिये अन्य मानवों को बांटी तब वे मुनि से ऋषि बन गये। क्योंकि मानव के पास मन, वाणी, बुद्धि के अतिरिक्त और कोई भाव प्रकाश का साधन नहीं है इसलिये बाध्य होकर मानव को वाणी से बखान करना पड़ा। किन्तु शंकराचार्य जैसे ऊँचे दार्शनिक ने परमतत्त्व के कोई विधायक गुण नहीं बखान किये क्योंकि उससे परमतत्त्व गुणों में सीमित हो जायेगा, गुणों में बंध जाता है। उन्होंने निषेधात्मक गुण बताये ताकि मनुष्य को समझ भी आ जाये गुण और वाणी बंधन भी न रहे। अर्थात् अजर (जो बूढ़ा नहीं होता) अमर (जो मरता नहीं अविनाशी) अक्षय (जिसका क्षय नहीं होता) अव्यय (जिसका व्यय नहीं होता) अक्षर (जिसका क्षरण नहीं होता) अगोचर (जो इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता) अवाङ्मनसागोचर (मन वाणी इन्द्रियों से परे) अद्वैत (जो द्वैत नहीं है) अद्वय अद्वितीय (जिसकी तुलना का कोई नहीं है) अशेष (जिसके पीछे कुछ शेष नहीं बचता), निराकार निर्विकार निर्गुण निरुपाधि (उपाधि से परे) अविभक्तम् (जो बंटा हुआ नहीं), निष्कलम्, अखण्ड, अछेद्य, अभेद, अदृश्य आदि इस तरह शंकराचार्यजी ने ब्रह्म की निषेधात्मक गुणों से व्याख्या की है।

कहीं-कहीं प्रारम्भिक शिक्षा के लिये उस पूर्ण अनन्त को एक कहा गया क्योंकि बड़ी से बड़ी राशि में एक ही निर्लिप्त भाव से समाया हुआ है, किसी भी राशि को तोड़ते जायें तो अन्त में एक ही बचता है, अर्थात् सब राशियों में एक ही समाया हुआ है। तो अनेकता में एकता, बहुत्व के पीछे एकत्व के दर्शन होते हैं—

एको देवाः सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूतधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।
6/11 श्वेताश्वरोपनिषद

पर एक मनुष्य की बुद्धि द्वारा आविष्कृत गणना का अंक है। यदि ब्रह्म मनुष्य की तुच्छ बुद्धि की गिनती में आ सके तो वह सीमित हो जायेगा। यदि एक मान लिया जाय तो एक के सब गणना परिवार को मानना पड़ेगा 1+1 मिलाकर दो बन जायेंगे इसी प्रकार 1 और जोड़ देने से 3-4-5 सब गिनतियां बनती जायेंगी, इसमें जोड़ एवं घटाव दोनों का व्यापार चल पड़ेगा। पूर्ण में जोड़ एवं घटाव सम्भव नहीं। जिसमें कमी या वृद्धि हो उसे पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्ण वह है जिसमें न कुछ जोड़ना सम्भव है और न घटाना ही सम्भव है। यदि पूर्ण में कुछ जोड़ना सम्भव मान लेवें तो वह पहले पूर्ण नहीं था। यदि उसमें विभाजन किया सके, उसके टुकड़े करके खण्डित किया जा सके तो वह अखण्ड नहीं बचता। अतः पूर्ण जो जोड़-घटाव से परे, गुणा-भाग से परे, एक-अखण्ड, सदा सर्वदा परिपूर्ण सत्ता है वह अनन्त है—

पूर्ण अनन्त—वह पूर्ण घटाव रहित, अक्षय है

वह पूर्ण वर्द्धन रहित परिपूर्ण है निर्योग है

वह पूर्ण गुणन रहित निर्गुण है

वह पूर्ण भाग रहित अखण्ड अविभाज्य है।

अनन्त या पूर्ण + पूर्ण = पूर्ण

अनन्त या पूर्ण - पूर्ण = पूर्ण

अनन्त या पूर्ण × पूर्ण = पूर्ण

अनन्त या पूर्ण ÷ पूर्ण = पूर्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

पूर्ण से पूर्ण की ही निष्पत्ति होती है और पूर्ण की निष्पत्ति के पश्चात् भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्। 18/20 गीता

जिस ज्ञान के द्वारा सब भूत प्राणियों में नाम-रूप में विभक्त अनेक भरे संसार में उस एक अविभक्त, अव्यय अविनाशी पूर्ण तत्त्व को देखता है वही ज्ञान सात्त्विक है। जड़ एवं प्राणियों के जड़-चेतन वस्तुओं के नाम तथा रूप भिन्न है। इस कारण से सब अलग-अलग बंटे हुए दिखाई देते हैं, किन्तु सब मनुष्य अपने को मैं कहते हैं, सब प्राणियों के लिये स्वयं शब्द प्रयोग होता है। इससे परे जड़ वस्तुओं के लिये भी स्वयं शब्द प्रयोग होता है। बादल स्वयं बरस पड़ा। सूर्य स्वयं तपने लगा, दीपक स्वयं बुझ गया। इस प्रकार विश्व की अनन्तानन्त जड़-चेतन वस्तुओं में जो एक 'मैं, स्वयं' छिपा हुआ है, वस्तुओं के अनेक वर्गों या प्राणियों में बंट जाने पर भी मैं स्वयं नहीं बंटा, इन विभक्तों में जो उस अविभक्त को देखता है, अब्यय और पूर्ण को देखता है उसका ज्ञान सर्वोपरि श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है।

इसलिये शुद्ध तर्क की भाषा में उसे एक कहना भी उचित नहीं है। भाषा की लाचारी से उसे कभी एक कह भी दिया जाये तो भी दार्शनिक शब्दावली में अद्वैत कहने में ही पूर्णत्व के भाव की कुछ रक्षा होती है।

ईश्वर के प्रति भारतीय अवधारणा को अस्वीकार करने की क्षमता किसी में नहीं है। सभी को ईश्वर के इस स्वरूप को स्वीकार करना ही पड़ता है।

सबसे पहले पश्चिम में ईश्वर के प्रति आधी-अधूरी व त्रुटिपूर्ण अवधारणा के कारण खंडित हुई। वस्तुतः ईश्वर के विषय में सेमिटिक जो अवधारणा है उससे ही इतनी सब गड़बड़ियाँ निर्माण हुई है।

बाइबिल की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा

बाइबिल का ईश्वर घोर राग-द्वेष से ग्रस्त है, उसकी अभिरुचियाँ नृशंसता परायण है। उसकी मुंहलगी जातियां है, मुंहलगे चर्च और उम्मा है। उनके अक्षम्य शत्रु भी हैं। वह अहंकार से भरा हुआ और स्वार्थ से सराबोर है। वह किसी अन्य उपास्यों को सहन नहीं करता। उसका आग्रह है कि उसके सिवाय किसी अन्य उपास्य की पूजा नहीं होनी चाहिये।

बाइबिल में वह (याहू) अपने मुंह से कहता है वह 'ईर्ष्या-विदग्ध ईश्वर' है और जिसका नाम ईर्ष्या विदग्ध है वह भयंकर रोष और नृशसंता से भरा हुआ भी है। वह अपने मुंहलगे लोगों को आदेश देता है कि जब मैं तुम को उस देश में पहुंचा दूं जहां पहुंचाने का वायदा मैंने तुमसे किया था और मैं उस देश के वासियों को तुम्हें सौंप दूं तो 'तुम उनको मारोगे और उनका सर्वनाश कर दोगे, तुम उसके साथ कोई समझौता नहीं करोगे और न ही उनके प्रति दया दिखलाओगे....तुम उनके पूजा स्थलों का ध्वंस करोगे, उनकी देव मूर्तियों को तोड़ डालोगे....और जिन वनों में उनके चैत्य है उनको काट डालोगे....कारण तुम अपने प्रभु के निकट पावन लोग हो।

(बाइबिल विधि विवरण 7.1-6)

बाइबिल में यह प्रसंग मिलता कि किस प्रकार 'प्रभु' ने एक महामारी को भेजा और इजराइल के सत्तर हजार पुरुष उसका शिकार हो गये। (इतिहास पहला भाग 21-14)

इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए और यह बतलाते हुए कि मरने वाले सभी पुरुष मुंहलगे थे। स्वामी दयानन्द ने कहा कि 'इस प्रकार क्षण में तुष्ट, क्षण में रुष्ट होने वाले प्रभु का प्रसाद भी भयंकर है। यहूदी जाति ने याहू की तुनकमिजाजी के कारण न जाने क्या-क्या झेला है। स्वामी दयानन्दजी स्पष्ट वक्ता थे। कुरान के अल्लाह और शैतान की तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि दोनों प्रायः एक समान हैं।

कुरान का अल्लाह

कुरान के अल्लाह में भी लगभग ऐसे ही गुण धर्म मिलते हैं। वह कोप (गजब) का देवता है। जो लोग उस पर तथा उसके पैगम्बरों पर विश्वास नहीं करते उनको वह भयावह दण्ड देता है। इसी न्याय से वह प्रचण्ड प्रतिशोध लेने वाला है। वह लूट के माल की प्रभूत राशि देने वाला भी है। वह अपने मोमिनो को बतलाता है कि उसने किस प्रकार मोमिनों के शत्रुओं-काफिरों को परास्त करके काफिरों की धरती उनके घर बार और उनका धन धान्य मोमिनों को दिलवाये। अल्लाह बाइबिल के याहू का अक्षरशः अनुसरण करता है। याहू ने अपने मुंहलगे

लोगों से वायदा किया है कि वह उनको ऐसे प्रशस्त और सम्पन्न नगर प्रदान करेगा जिनका निर्माण उन्होंने नहीं किया, ऐसे कुएं देगा जो उन्होंने नहीं खोदे, अंगूरों के ऐसे बाग और जैतून के ऐसे पेड़ देगा जो उन्होंने नहीं बोये।

(बाइबिल विवरण 6.10.11)

अतएव यह विस्मय का विषय नहीं कि प्राचीन समय में ही इस प्रकार के ईश्वर को लेकर समझदार लोगों के मन में शंकाएं जगी और प्रश्न पूछे गये—

वस्तुतः किसी ने कहा याहू एक सदोष सत्ता है जो सदोष नीति तंत्र का शासन खड़ा करती है। किसी ने कहा याहू वास्तव में शैतान है। किसी अन्य ने याहू का नाम 'सामएल' अर्थात् अंधा उपास्य अथवा अंधों का उपास्य रख दिया। अन्य विचारकों ने याहू को अव्यवस्था की संतान बताया।

बुद्धिवादी युग आने पर याहू युग की नैतिक चेतना और भी अधिक आपत्तिजनक लगने लगी। टामस जैफरसन ने कहा—'बाइबिल का ईश्वर एक भयावह सत्ता है—नृशंस क्रूर अस्थिर चित्त और अन्यायपूर्ण। टामसपेन (1737-1809) ने बाइबिल के विषय में मत प्रकट किया कि इसको ईश्वर की वाणी न कहकर शैतान की वाणी कहें तो अधिक युक्तिसंगत होगा।

बङ्किमचन्द्र ने बाइबिल के ईश्वर को तानाशाह कहा है। बाइबिल में ईसा द्वारा प्रवक्त 'चिरन्तन ज्वाला' में अन्तहीन दण्ड का विधान किया गया है। बंकिम ने इस विधान को शैतानी विधान बतलाया है।

क्योंकि इन्हीं विचारों ने क्रूसेडों को, जिहादों को असहिष्णुता को जन्म दिया है। मतान्तरण को अपना धार्मिक दायित्व या अधिकार की भावना को जन्म देता है। ईश्वर तो एक है पर वह अपनी अभिव्यक्ति नानाविध-रूपों में करता है। यह व्यक्ति को सहिष्णु बनाता है। ईश्वर की अन्य अभिव्यक्ति का निषेध असहिष्णु बनाता है। इस प्रकार बहुदेववाद मनुष्य को सहिष्णु, सहअस्तित्ववादी बनाता है। 'जीओ और जीने दो में, 'भी' सिद्धान्त में विश्वास करता है जबकि सेमिटिक परम्परा 'ही' में यानी एकमेव हम ही ठीक हैं बाकी सब गलत एवं जीवन के अधिकारी नहीं हैं।

पर हिन्दुओं की मनोदशा कुछ ऐसी हो गई है कि ईश्वर अथवा नबी अथवा संत के नाम पर कोई भी कबाड़ उनके गले में उतारा जा सकता है। 'समन्वय' शब्द के प्रति उनके मन में विकट मोह है। समन्वय के नाम पर भानुमती का पिटारा जोड़ते रहते हैं। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि जो कुछ उन्होंने जोड़ा है उनके बीच कोई बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक संगति अथवा सामञ्जस्य भी है अथवा नहीं।

ईसाइयत का भगवान् स्वयंकृत ईश्वर है (Personal God)। मनुष्य सुलभ विचारों, विकारों, आचारों का आरोपण वहां भगवान् पर किया गया है। यह Personal God हम मनुष्यों की तरह का है जो मानव के समस्त दुर्गुणों से युक्त है। विकारी है अतः उसमें श्रेष्ठता जैसी कोई बात नहीं है जो मनुष्य को आदर्श या Model दे सके। जैसे हमारी कोई प्रशंसा करने से हम खुश होते हैं, हमारे विचारों का जो समर्थन करते हैं उससे हम खुश होते हैं और हमारे विचारों से जो सहमत नहीं होता, पार्थक्य रखता है उससे हम पसन्द नहीं करते। उससे ईर्ष्या करते है, द्वेष पालते हैं। उनके ईश्वर पूरे मानव समाज को दो भागों में विभक्त कर देते हैं विश्वासी और अविश्वासी। अविश्वासी Hidden हैं या काफिर हैं और उन्हें साम, दाम, दण्ड, भेद का अवलम्बन कर उन्हें अपने में मिलावें अन्यथा निर्मम ढंग से वध करना ही उन पर दया दिखलाना है। ईसायत में व्यक्तिगत मुक्तिदाता ईसा को और इस्लाम में अन्तिम पैगम्बर महमूद को मानना अनिवार्य है। अन्यथा आप कितने भी श्रेष्ठ धर्मपरायण सदाचार सम्पन्न क्यों न हो नरक के ही अधिकारी हैं। इसी आधार पर मोलाना मोहम्मद अली ने कहा 'पापी से पापी मुसलमान भी महात्मा गांधी से बढ़कर है, क्योंकि वह कुरान शरीफ में विश्वास करता है, अल्लाह और हजरत मोहम्मद में विश्वास करता है। बेचारे ईसा एवं मोहम्मद के पूर्वजों को भी नरक में स्थान मिला है जो इन दोनों के पूर्व होने के कारण यह दुर्दशा को प्राप्त होते हैं तब अन्यों की क्या बात है? और इन विचारों ने जिहाद को धर्मयुद्धों को जन्म दिया है।

पहले चर्च ने गैर ईसाइयों को मारना, जलाना प्रारम्भ किया फिर राजनीतिक विरोधियों को नष्ट करने का अभियान चलाया। फिर गैर इसाई राष्ट्रों के विरुद्ध जेहाद प्रारम्भ किये तथा गैर इसाई राष्ट्रों को धरती से उच्छेद करने का अन्तरराष्ट्रीय अभियान चलाया (अमेरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका आदि को) फिर इसाई मत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुषों को तेल छिड़ककर सामूहिक रूप से जलाना प्रारम्भ किया। पोप ने अपना धार्मिक न्यायालय बना लिया जो तनिक भी विरोध करने वाले या भिन्न मत रखने वाले लोगों को चर्च के शत्रु कहकर सामूहिक रूप से जलाने या मारने का दण्ड देता था। Blood council हजारों-लाखों लोगों को फांसी पर चढ़ा दिया। धार्मिक न्यायालय (Inauisition) ने पोप के एक वाक्य पर 1568 ई. नीदरलैण्ड के (हालैण्ड) के तीन लाख निवासियों को तेल छिड़ककर सामूहिक रूप से जला दिया। सारे यूरोप और अमेरीका के चर्च का इतिहास इसी प्रकार के हत्या के कुकर्मों से रक्त रंजित है।

फिर बाइबिल के तत्त्वज्ञान ने पूरे यूरोप के मध्ययुग को ज्ञानाधंकार में रखा। कालान्तर में ग्रीक साहित्य व भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अनुशीलन के प्रभाव से पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान का विकास प्रारम्भ हुआ।

इस्लाम का इतिहास भी कम दर्दनाक नहीं है। उन्होंने गैर मुसलिम (काफिर) देशों के विरुद्ध जेहाद बोलकर भयंकर रक्तपात किया। नारी जाति का घोर अपमान किया। धन और इज्जत को लूटा, नन्हे-नन्हे बच्चों को दीवारों में चुनवाया गया। विधर्मियों की आँखें निकलवायी, बोटी-बोटी नुचवायी, आरे से चिरवाया, चर्खियों पर कटवाया, दो-दो पैसे में सिर बिकवाये, जलते हुए तवों पर जलवाया, उबलती हुई देग में जलवाया, खून के फव्वारे बहाये, मन्दिर मठों को तोड़ा। पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों को जलाया, देव प्रतिमाओं को अपने शौचालयों में औंधे मुख लगवाया। दुर्लभ ग्रंथों को जलाकर अपने हमाम के पानी गरम करवाये और देश के नर-नारी को विदेश में गुलाम बनाकर बेचा। ईसाइयत और इस्लाम की धारा जहाँ-जहाँ भी गई उस ओर देश के धर्म, दर्शन, सभ्यता-संस्कृति, कला और इतिहास को समूल रूप से नष्ट कर अपनी विदेशी, बर्बर सभ्यता-संस्कृति को थोप दिया। ईश्वर के नाम पर ये अधर्म होते रहे और अभी भी हो रहे हैं।

रोम्यारोला प्रथम जीवन में मार्क्ससिस्ट थे। जब मार्क्सवाद से मोहभंग हुआ तब धर्म की ओर झुका। वे कहते हैं—पच्चीस साल पहले की बात है। मैं सुबह के समय घूमता हुआ एक गिरजे के सामने से गुजरा। पादरी प्रवचन पढ़ रहा था।

ईश्वर! हमारे शत्रुओं का नाश करो। अधर्मियों के लिये नरक के द्वार खोल दो, हमारे देश को सुख सम्पदा से भर दो। हमारे सम्राट को दिग्विजयी बनाओ....

आज चौथाई सदी बीतने पर भी हमारे गिरजाघरों में लगभग इसी प्रकार के प्रवचन पढ़े जाते हैं। उनके खयाल से मेरे मन में विद्रोह की आंधी आयी और मैं सोचता हूँ कैसा है यह प्यारा ईश्वर। वह दया, सहानुभूति का ईश्वर नहीं है। वह अनन्त प्रेम का ईश्वर नहीं वरन् वह हिंसा का ईश्वर है, रक्तपात का ईश्वर है जो दो-दो विश्वयुद्धों को जन्म देकर शैतान की हँसी हँसता है।

पिछले पच्चीस सालों में मैं उस ईश्वर से घृणा करता आ रहा हूँ और अपनी कल्पना में ऐसे ईश्वर को साकार करता रहा हूं जो मनुष्यों के अपार गौरव और महानता का प्रतीक है। उस ईश्वर की खोज में मैंने संसार के सभी नये-पुराने दर्शनशास्त्र पढ़े हैं परन्तु मुझे संतोष नहीं मिला। हाँ, हिन्दुओं का वेदान्त पढ़ने पर जरूर मुझे कुछ सन्तोष हुआ है और मेरी कल्पना के ईश्वर को साकार किया है। हिन्दू दर्शन कहता है, 'मुझे घृणा से मुक्त कर दो, मुझे अजातशत्रु बनाओ और भावनाओं के तूफान में मुझे इस प्रकार अचल अटल बनाओ कि मैं सबको समझ सकूँ और प्यार कर सकूँ।

हमारे यहां स्वयंकृत ईश्वर Personal God की ऐसी कोई अवधारणा नहीं है। हमारे यहां रामकृष्ण परमहंस की मां काली हो, या मीरा के श्याम हों, तुलसी व कबीर के राम हों, या तुकाराम के बिट्ठल हो या नरसी मेहता के कृष्ण हों उन

सबकी ईश्वर की अवधारणा निर्गुण-निराकार, सगुण निराकार एवं सगुण साकार की है। निर्गुण निराकार ही सगुण निराकार होकर सम्पूर्ण सृष्टि या अस्तित्व को अपने में से व्यक्त करता है, सारी सृष्टि उसी के आश्रय में रहती है और प्रलय काल में इसी में लय को प्राप्त होती है और भक्त की पुकार सुनकर वह स्वयं सगुण-साकार रूप से, अवतार रूप से अपने को प्रकट भी करता है।

मुसलमान व ईसाइयों की कल्पना है खुदा सातवें आसमान पर बैठा है। यह हिन्दू कल्पना के विपरीत है। हिन्दू कल्पना में भगवान अन्तर्यामी है। मेरा प्रभु मेरे साथ है। जो प्रभु मेरे से दूर है वह मेरी क्या मदद करेगा। जो प्रभु मेरे संग है वह हर पल-पल हर श्वास-श्वास में, हर प्राण-प्राण में, पग-पग पर मेरी सहाय कर रहा है। ऊपर वाले की कृपा यह मुहावरा मुसलमानों के यहां से आया है हमारे यहां। ऊपर वाला कुछ नहीं होता अन्तर वाले की बात करनी चाहिये। डॉ. राधाकृष्ण ने एक कथा लिखी है। पुराणों की कथा अपनी शब्दावली में बनाकर लिखी है। वैकुण्ठ में भगवान् बैठे हैं। लक्ष्मी चरण दबा रही हैं। भगवान् ने कहा, गरुड को बुलाओ। गरुड को बुलाओ। क्यों गरुड को बुलाएं। मेरे भक्त पर विपत्ति आयी है। संकट आया है। लक्ष्मी ने कहा, थोड़ा रुको। भगवान् ने कहा, नहीं, मुझे तुरन्त जाने दे भक्त ने पुकारा है। भक्त पर विपत्ति आयी है। गरुड पर बैठकर भगवान् बड़े वेग से गये फिर कुछ क्षण बाद लौटकर आ गये। लक्ष्मी ने कहा, भक्त की रक्षा हो गई। तब भगवान् ने कहा, हां, लक्ष्मी! मैं तो पहुंचा पर मेरे पहुंचने से पहले ही अन्तर का नारायण पहुंच चुका था। इसलिये मेरा प्रभु अन्तर्यामी है। मेरा प्रभु मेरे अन्तर में है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। 18/61 गीता

ईश्वर सब भूतों के हृदय में स्थित रहता है। वह अन्तर में बैठा हुआ सब जीवों को यन्त्रवत घुमाता रहता है। हिन्दू धर्म का ईश्वर सबके संग है, उसी के हृदय में बैठा हुआ है। सदा उसके साथ है।

और हिन्दू धर्म मानता है कि हम अपने अन्तर में ही ईश्वर के दर्शन कर यहीं मुक्त हो जाते हैं। इसी जीवन में और यहीं पर मुक्त होकर रहेगा। यह नकद धर्म है। जबकि सेमिटिक परम्परा कयामत के बाद मुक्ति मानती अतः उधार धर्म है। जीवों को न्याय कयामत के दिन मिलता है। पापी-पुण्यात्मा दोनों को कयामत तक कब्र में पड़े रहना पड़ेगा। दस हजार वर्षों के दस हजार युग बीतने पर कयामत आयेगा। यानी एक अरब वर्ष कब्र में भूखे-प्यासे, सर्दी-गर्मी, अंधेरे में बिना हवा के पड़े रहना होगा। दो-एक दिन भोजन, पानी, प्रकाश, हवा न मिले तो कैसी

हालत हो जाती है। थोड़ी देर के लिये बिजली चली जाय—पंखा, कूलर, ए.सी. न चले तो कैसी हालत हो जाती है। अब तो एक अरब वर्ष ऐसी हालत में पड़े रहना पड़ेगा। फिर कयामत के दिन उन्हें पाप-पुण्य के फल के रूप में अनन्त स्वर्ग या नरक प्राप्त होगा। पर Justice delayed is justic denyed विलम्बित न्याय अन्याय जैसा बन जाता है। अमेरीका के महान लेखक किस्ट्रोफर ईशरहुड़ ने बाइबिल में जब यह पढ़ा कि ईश्वर दूर सातवें आसमान में बैठा हुआ है और उसका न्यायालय करोड़ों वर्षों के बाद कयामत के दिन खुलेगा तो उसने ईश्वर में विश्वास ही छोड़ दिया। उसने कहा, ऐसे ईश्वर से तो कोई धरती का मजिस्ट्रेट ही अच्छा है जो हमें कुछ मास या कुछ वर्ष में न्याय तो देता है। यदि किसी आदमी ने आज मुझे चोट मारी है और मुझे न्याय और उसे दण्ड लाखों वर्ष बाद मिलने वाला है तो वह घोर अन्याय है। ईशरहुड गीता के प्रभाव से अपनी आस्था एवं जीवन को बचा सका। आर्य धर्म मानते हैं कि ईश्वरीय न्याय अनवरत रूप से चल रहा है। भगवान् का न्यायालय एक क्षण के लिये भी बंद नहीं होता। इनको सृष्टि के काल की अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण एवं ईश्वर की अवधारणा मानवीय प्रकृति के विरुद्ध है।

ईश्वर की इन त्रुटिपूर्ण अवधारणाओं के कारण आज स्वयं पाश्चात्य देशों में ईसाइयत के प्रति आस्था शेष नहीं बची। फयूरबाग, मार्क्स, नीत्शे, फ्रायड, बर्टेंड रसेल आदि को ईसाइयत या सेमिटिक परम्परा के कारण धर्म, ईश्वर में अनास्था उत्पन्न हुई, नास्तिकता उत्पन्न की। इनकी विकृत मान्यताओं और क्रियान्वयन की बीभत्सता से उन्हें धर्म और ईश्वर के नाम पर Allergy हो गयी। यही बात विज्ञान जगत् के मनीषियों के साथ हुई। पर ईमानदार, सुलझे हुए विचारक आज हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

जिसमें हमने रोम्यारोला, ईशरहुड़ का तो उदाहरण देखा इसी प्रकार डॉ. ऐनी बिसेन्ट, भगिनी निवेदिता, श्रीमां, लुई फिशर प्रथम जीवन में मार्क्सवादी थे। कालान्तर में उससे मोह भंग होने पर हिन्दू धर्म के प्रति झुके।

हिन्दू धर्म के ईश्वर की अवधारणा ने विश्व मनीषा को प्रारम्भ से आज तक अपनी ओर आकृष्ट किया है—चाहे आप प्राच्य-पाश्चात्य विशारद मैक्समूलर को लेवें या जर्मनी के दार्शनिक श्लेगल, कांट, शोपनहावर को लेवें या बर्गसा, हबर्टस्पेन्सर या ब्रिटिश इतिहासकार अर्नान्ड टोयनबी, सर विलियम जोन्स या महान साधिका प्राच्य-पाश्चात्य विशारद डॉ. ऐनीबिसेन्ट या भगिनी निवेदिता को या कार्लाइल को लेवें या चाहे ब्रिटिश अमेरिकन पादरी ए.जी. एटकिन्स, इतिहासकार विल डूरेन्ट, चाहे पत्रकार क्रिस्ट्रोफर ईशरहुड चाहे दार्शनिक थोरो इमरसन, चाहे वैज्ञानिकों में ओपनहीमर चाहे फ्रांस की महान साधिका श्रीमां,

चाहे इतिहासकार मिचलेट चाहे साहित्यकार रोम्यारोला चाहे लुई फिशर शिव शरण चाहे रूस के टाल्सटाय, स्टालिन, डॉ. ए. वरानिकाव चाहे विज्ञान जगत् के आइंस्टाइन, श्रोडिंजर, एडिंगटन, ओलडुअस हक्सले, एक्सिस केरल, सरजेम्स जीन, कोपरा, हुम्बोल्ट, डेविड फाले, फ्रैंकोइस गोटियर आदि ये सब ईसाई होने के बाद भी हिन्दू धर्म के प्रति आकृष्ट हैं (कुछ ने तो विधिवत हिन्दू-धर्म को ही स्वीकार कर लिया) भविष्य के विश्व धर्म के रूप में इसे ही मान्य करते हैं एवं मानवता के त्राण का एकमात्र आधार इसे ही स्वीकारते हैं। ये सब स्वयं की प्रेरणा से एवं हिन्दू आदर्श से प्रेरित होकर हमारे प्रशंसक बने हैं। इसलिये हिन्दू धर्म के सम्पर्क में आया वह आबाद हो गया। समृद्ध, सुसंस्कृत, सभ्य, उदार हो गया। और जो ईसाइयत-इस्लाम के सम्पर्क में आया वह बर्बाद हो गया चाहे वह देश हो या व्यक्ति, आतंकवादी, अलगाववादी, हिंसक और बर्बर हो गया।

दूसरी तरफ जिन्होंने ईसाई या इस्लाम को स्वीकारा है वह या तो भय से, लोभ से उनके दर्शन या आदर्श से प्रेरित होकर नहीं। क्योंकि उनके पास महान जीवन का कोई आदर्श नहीं है। बहुत से लोग हिन्दू रहकर अनेक पत्नी नहीं रख सकते इसलिये भी मुसलमान धर्म को स्वीकार कर लेते हैं।

इष्टदेव की स्वाधीनता

हिन्दू धर्म में सबको लोकतांत्रिक पद्धति से अपने-अपने मन के अनुकूल इष्ट देवता को चुनने की छूट है। यदि पिता आर्य समाजी होने से निराकार का उपासक है उसकी पत्नी प्रतिदिन शंकर की पूजा करती है, बेटा राम भक्त है, बेटी कृष्ण की भक्त है, भाई शक्ति का उपासक है तो भी घर में इष्ट देव की भिन्नता के कारण कोई विवाद या कलह नहीं होता। सर्वदर्शन संग्रह के लेखक स्वामी माधवाचार्य ने देश में प्रचलित भिन्न-भिन्न पंथों एवं दर्शनधाराओं को समन्वित करते हुए उन्होंने एक प्रार्थना लिखी है—

> यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रेहमेति वेदान्तिनो
> बोद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैय्यायिकाः।
> अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
> सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

जिसको शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक प्रमाण पटवः जैनी अर्हम्, मीमांसक कर्म कहते हैं। वह त्रैलोक्य नाथ हरि सबको वांछित फल देते हैं।

जीवन के विकास का क्रम भी यही है

सर्वप्रथम जीवन में व्यक्ति निष्ठा आती है।

तत्पश्चात् संघनिष्ठा आती है।

तत्पश्चात् तत्त्वनिष्ठा आती है।

अर्जुन पहले व्यक्ति रूप में भगवान् कृष्ण से प्रभावित हुआ। इसलिये तो एक अक्षौहिणी नारायणी सेना के स्थान पर निःशस्त्र भगवान् कृष्ण का चुनाव करता है।

फिर जब भगवान् ने विश्वरूप में अपने आपको व्यक्त किया तब अर्जुन अतिशय प्रभावित हुआ और हाथ जोड़कर भगवान् का आदेश मानने के लिये प्रस्तुत हो गया। वास्तव में गीतोपदेश में अर्जुन के हृदय परिवर्तन की कुंजी विश्वरूप दर्शन ही है।

तो जब भक्त व्यक्ति के विराट रूप को, उसके संघबद्ध रूप को, संगठित रूप को देखकर उससे प्रभावित होता है।

तत्पश्चात् तत्त्व निष्ठा आती है, वह आदर्श से प्रभावित होता है। विराट रूप, संघबद्ध रूप को देखकर ही फिर उसके पश्चात् तत्त्व निष्ठा आती है। आदर्श के प्रति समर्पण बुद्धि आती है, उसके पूर्व नहीं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में भी व्यक्ति का प्रवेश इसी प्रकार होता है। पहले वह व्यक्तिविशेष से प्रभावित होकर संघ में आता है, फिर उसके संघबद्ध (रूप) विराट रूप से जब साक्षात्कार होता है तो उससे प्रभावित होता है, उसके पश्चात् ही उसके आदर्श के प्रति आकृष्ट होता है।

भगवान् बुद्ध को भी यह बात ध्यान में आ गयी थी। इसलिये उन्होंने भी तीन प्रकार की निष्ठा बतायी। पहले व्यक्ति निष्ठा ही आती है तत्पश्चात् संघ निष्ठा, तत्पश्चात् धर्म निष्ठा, इसलिये भगवान् बुद्ध ने कहा—

बुद्धं शरणं गच्छामि
संघ शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि।

पहले व्यक्ति के प्रति प्रीति हो, फिर संघ के प्रति प्रीति अन्त में सिद्धान्त निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिये। स्फूर्ति का स्रोत यद्यपि सगुण से शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण (तत्त्व) में जाकर मिलना चाहिये। निर्गुण के अभाव में सगुण सदोष हो जाता है। विभिन्न कार्यों के लिये, सेवा के लिये संस्थाएं बनती हैं—आश्रम बनते हैं। संस्थाएं व आश्रम व्यक्ति को लेकर बनते हैं। वह व्यक्ति मुख्य आधार होता है। संस्था पहले व्यक्ति निष्ठ रहती है। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जाय, वैसे-वैसे वह व्यक्ति निष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिये।

यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो स्फूर्तिदाता के लोप होते ही संस्था में अंधेरा छा जाता है।

सगुण को भी निर्गुण का आधार चाहिये

लक्ष्मणजी राम के बिना नहीं रह सकते। वे भगवान् राम की छाया बन चुके हैं। राम को छोड़कर वे रह नहीं सकते। उन्हें तो वनवास नहीं मिला। और भगवान् राम भी चाहते थे वे उनकी अनुपस्थिति में अयोध्या में रहकर माता-पिता की सेवा करें। मैं तो ऋषि-मुनियों के आश्रम में जा रहा हूँ न कि किसी संकट में पड़ रहा हूँ। शीघ्र ही 14 वर्ष पूरे करके लौट आऊँगा। पर लक्ष्मण तो राम के बिना रह नहीं सकते। जैसे मछली जल के बिना नहीं रह सकती। वे राम की छाया बन चुके थे। फलतः उनको साथ ले जाना पड़ा। रामजी के अन्तकाल में स्वर्ग से एक देवदूत आया रामजी से एकान्त में वार्ता करने के लिये कि आपके अवतार का प्रयोजन और कार्यकाल पूर्ण हो चुका है अब आप अपने धाम पधारें। पर वह वार्ता एकान्त में करना चाहता है जिसमें अन्य सभी का प्रवेश वर्जित हो। भगवान् राम ने लक्ष्मण को पहरे पर लगा दिया और कह दिया जब तक वार्ता चले तब तक किसी को प्रवेश न देवें। प्रवेश देने से रामजी उनका भी परित्याग कर देंगे। पर दुर्भाग्य से वार्ताकाल में दुर्वासाजी राम से मिलने आ पहुँचे। उनको रोकने का अर्थ था कि लक्ष्मणजी, रामजी एवं पूरा राज्य ही उनके कोप का शिकार बनेगा। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति न बने अतः लक्ष्मणजी प्रवेश की अनुमति देने के लिये बाध्य होते हैं। आज्ञा के उल्लंघन स्वरूप रामजी लक्ष्मण को त्याग देते हैं। पर रामजी को छोड़कर वे जीवित नहीं रह सकते हैं फलतः वे सरयू के तट पर कापोपेशन के द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं। लक्ष्मणजी रामजी का वियोग सह नहीं सकते। मछली जिस तरह पानी से जुदा नहीं रह सकती वही हाल लक्ष्मण का था। राम से दूर रहने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनके रोम-रोम में राम के प्रति सहानुभूति भरी थी। राम सो जाय तब भी स्वयं जागते रहें, उनकी सेवा करें, उसी में उनको आनन्द मालूम होता था। हमारी आंख पर कोई कंकर मारे तो जैसे हाथ फौरन उठकर आंख पर आ जाता और कंकर की मार झेल लेता है उसी तरह लक्ष्मण राम के हाथ बन गये थे। राम पर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलते। राम का यश संसार में फैल रहा है परन्तु लक्ष्मण का कहीं पता नहीं। वह खुद पीछे रहकर राम की यश पताका फहराते रहे। राम बड़े-बड़े दुर्घर्ष काम लक्ष्मण से करवाते हैं। सीता को वन में छोड़कर आने का काम लक्ष्मण को सौंपा। मानो लक्ष्मण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं था। वह राम की आँखें, राम के हाथ-पाँव, राम के मन बन गये थे। जिस तरह नदी समुद्र में मिल जाती है उसी तरह लक्ष्मण की सेवा राम में मिल गयी थी। वह राम की छाया बन गये थे। लक्ष्मण की यह सगुण भक्ति थी। भगवान्

राम की धवल यश पताका जिस डण्डे पर फहरा रही थी वह लक्ष्मण था। वह सदा नींव का पत्थर बने रहे।

ऐसी ही स्थिति अर्जुन की होती है। अर्जुन भी सगुण का उपासक था। भगवान् कृष्ण का उपासक था। भगवान् कृष्ण ने अपनी लीला संवरण कर ली। और अपने बाद सब स्त्रियों की रक्षा का भार अर्जुन को सौंपा था। अर्जुन दिल्ली से आया और द्वारका से कृष्ण के घर की स्त्रियों को लेकर चला। रास्ते में हिसार के पास पंजाब के चोरों ने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय एकमात्र उत्कृष्ट वीर के नाम से प्रसिद्ध था। जो पराजय जानता ही न था और इसलिये 'जय' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। जिसने प्रत्यक्ष शंकर का सामना किया और उन्हें झुका दिया वही अजमेर के पास दौड़ते-भागते बच पाया। कृष्ण के चले जाने का उसके मन पर बड़ा असर हुआ मानो उसका प्राण ही चला गया और केवल निस्त्राण और निष्प्राण शरीर ही बाकी रहा।

इन दोनों उदाहरणों में सगुण के बाद निर्गुण की निष्ठा आनी चाहिये थी। वह न आने का यह दुष्परिणाम लक्ष्मणजी एवं अर्जुन को भोगना पड़ा। अतः निर्गुण के अभाव में सगुण सदोष हो जाता है।

सगुण सुलभ और सुरक्षित है। परन्तु सगुण को निर्गुण की आवश्यकता है। सगुण के विकास के लिये उसमें निर्गुण रूपी तत्त्वनिष्ठा का फल आना चाहिये। निर्गुण-सगुण परस्पर पूरक हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। सगुण से निर्गुण की मंजिल तय करनी चाहिये और निर्गुण को भी चित्त के सूक्ष्म मैल धोने के लिये सगुण की आर्द्रता चाहिये। सगुण का सहयोग चाहिये। दोनों एक-दूसरे से सुशोभित हैं।

भरत निर्गुण भक्ति करने वाला था। राम वन को गये तब भरत अयोध्या में नहीं था। जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वसिष्ठ उसे समझा रहे थे कि तुम राज्य चलाओ। पर भरत ने कहा—मुझे राम से भेंट करनी चाहिये। राम से मिलने के लिये वह भीतर से छटपटा रहा था। परन्तु साथ ही साथ राज्य का प्रबन्धन भी कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य राम का है इसका प्रबन्ध करना है—यह राम का ही काम करने जैसा है। सारी सम्पत्ति उस मालिक की है उसकी व्यवस्था करना उसे अपना कर्तव्य मालूम होता था। राम की भक्ति का अर्थ है राम का काम करना, यह भरत की भूमिका है। नहीं तो भक्ति किस काम की? राज-काज की सारी व्यवस्था करके भरत राम से भेंट करने वन में आया है। भैया यह आपका राज्य है। इतना ज्यों ही कहता है वह, त्यों ही राम उससे कहते हैं 'भरत तुम्हीं राज-काज चलाओ।' भरत संकोच से खड़ा रहता है वह कहता है आपकी आज्ञा सिर आँखों पर। राम जो कहे सो मंजूर। उसने अपना सब-कुछ राम पर निछावर कर रखा था।

भरत गया और राजकाज चलाने लगा; परन्तु देखें कैसा अजीब दृश्य है कि अयोध्या से दो मील की दूरी पर वह तपस्या करता रहा। तपस्वी रहकर उसने राज-काज चलाया। अन्त में राम जब भरत से मिले, तब यह पहचानना मुश्किल हो गया कि वन में रहकर तप करने वाला असली तपस्वी दोनों में कौन है? दोनों के चेहरे एक से उम्र में थोड़ा-सा फर्क, मुख मुद्रा पर वही तपस्या के चिह्न। दोनों को देखकर पहचाना नहीं जाता कि इनमें राम कौन और भरत कौन हैं? इस तरह भरत यद्यपि शरीर से, राम से दूर था, तो भी मन से वह क्षणभर के लिये भी दूर नहीं था। एक ओर वह राजकाज चला रहा था तो भी मन से वह राम के पास ही था। निर्गुण में सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। इसलिये भरत को राम का वियोग नहीं लगता था। वह अपने प्रभु का कार्य कर रहा था।

आजकल युवक कहते हैं—राम का नाम, राम की भक्ति, राम की उपासना ये सब बातें हमारी समझ में नहीं आती। हम तो भगवान् का काम करेंगे। भगवान् का काम कैसे करना चाहिये इसका नमूना भरत ने दिखला दिया।

यद्यपि भरत की यह वृत्ति निर्गुण रूप से काम करने की थी तो भी वहाँ सगुण का आधार टूट नहीं गया था। 'प्रभो राम! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कहेंगे उसमें मुझे सन्देह न होगा' ऐसा कहकर भरत लौटने लगा तो उसने फिर पीछे मुड़कर राम की ओर देखा और कहा, भगवन, मन का समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ सा लगता है। राम ने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—ये मेरी पादुकाएं ले जाओ। अन्त में सगुण के प्रति आदर रहा ही। निर्गुण को सगुण ने अन्त में आर्द्र कर ही दिया। भरत यद्यपि अपने कर्तव्य का पालन करने में ही राम भक्ति मानता था तो भी उसे पादुकाओं की आवश्यकता महसूस हुई। उसके अभाव में वह राज-काज का भार नहीं उठा सकता था। उन पादुकाओं की आज्ञा शिरोधार्य करके वह अपना कर्तव्य पालन कर रहा था। भरत यद्यपि कर्तव्य निष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठा को पादुका की आर्द्रता की जरूरत महसूस हुई।

हरि भक्ति रूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिये। इसलिये भगवान् ने अर्जुन से बार-बार कहा है—'मय्यासक्तमनाः पार्थ' अर्जुन मुझमें आसक्त रह, मेरे रस का सहारा ले और फिर कर्म करता रहे'। जिस भगवद्गीता को आसक्ति शब्द न तो सूझता है, न रुचता है जिसमें बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो। राग-द्वेष छोड़कर कर्म करो। निरपेक्ष कर्म करो, अनासक्ति निस्संगता जिसका ध्रुपद है वही गीता कहती है, अर्जुन! मुझसे आसक्ति रख। पर यहां पर याद रखना चाहिये कि भगवान् में आसक्ति रखना बड़ी ऊंची बात है वह किसी पार्थिव वस्तु के प्रति आसक्ति थोड़े ही है।

सगुण-निर्गुण दोनों एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं। सगुण-निर्गुण का आधार सर्वथा तोड़ नहीं सकता और निर्गुण को सगुण के रस की जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्तव्य कर्म करता है वह उस कर्म द्वारा पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजा के साथ रस आर्द्रता चाहिये। 'मामनुस्मर युध्य च' मेरा स्मरण रखते हुए कर्म करो। कर्म स्वयं भी एक पूजा ही है परन्तु अन्तर में भावना सजीव रहनी चाहिये। केवल फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना पूजा का एक प्रकार है। सत्कर्मों के द्वारा पूजा दूसरा प्रकार है, परन्तु दोनों में भावना रूपी आर्द्रता आवश्यक है। फूल चढ़ा दिये, पर मन में भावना नहीं है तो वे फूल मानो पत्थर पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण और निर्गुण, कर्म और प्रीति, ज्ञान और भक्ति—ये सब चीजें एक रूप ही है। दोनों का अन्तिम अनुभव एक ही है।

उद्धव यद्यपि कृष्ण का सखा है, कृष्ण का उच्छिष्ट प्रसाद पाता है, उच्छिष्ट वस्त्र पहनता है पर वह निर्गुण का उपासक है। भगवान् जब भी गोपियों के प्रेम की चर्चा करते हैं। अपने वियोग की चर्चा करके गोपियों की दीन अवस्था का चित्रण करते हैं तो उद्धव अपने निर्गुण का ज्ञान बघारने लगता है कि वास्तविक तात्त्विक रूप से तो आप निर्गुण है, सर्वव्यापी सत्ता है उससे वियुक्त कोई हो ही नहीं सकता अतः वियोग जनित कष्ट भी नहीं रहेगा। और उनके वियोग दुःख का मोचन निर्गुण उपासना के द्वारा हो यह भगवान् कृष्ण से निवेदन करते हैं। तब भगवान् कहते हैं, यह काम आप ही करो। मुझ से तो नहीं होगा। तब उद्धव ही भगवान् कृष्ण का सन्देश लेकर जाते हैं और उनको निर्गुण की उपासना का सन्देश देते हैं। पर वे गोपियों के प्रेम को देखकर और उनके वियोग की ज्वाला को देखकर स्वयं ही विह्वल हो जाते हैं। और उन्हें वहां सगुण भक्ति का मर्म और महत्त्व समझ में आता है और स्वयं ही सगुण भक्ति की आर्द्रता में रंग जाते हैं। इस प्रकार निर्गुण भक्ति को भी सगुण की आर्द्रता का आधार चाहिये। इसके बिना निर्गुण भी अपने-आप में परिपूर्ण नहीं है।

जब कृष्ण को देह छोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उन्होंने उद्धव से कहा—ऊधो, अब मैं जा रहा हूँ। उद्धव ने कहा—मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे? चलो हम दोनों साथ ही चलेंगे। परन्तु कृष्ण ने कहा—यह मुझे पसन्द नहीं। सूर्य अपना तेज अग्नि में रख जाता है, उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझ में छोड़ जाता हूँ। इस तरह भगवान् ने अन्तकालीन व्यवस्था की और उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रा में उद्धव को मैत्रेय ऋषि से मालूम हुआ कि भगवान् निज धाम चले गये; किन्तु उनके मन पर उसका कुछ भी असर न हुआ मानो कुछ हुआ ही नहीं।

इस प्रकार निर्गुण भक्ति को सगुण का आधार चाहिये और सगुण को निर्गुण का। इसी आधार पर भरतजी राम का वियोग सह सके, उनका कार्य कर सके जो कि लक्ष्मण के द्वारा और अर्जुन के द्वारा सम्भव नहीं हुआ और उद्धवजी को सगुण का महत्त्व समझ में आया। साथ ही साथ उनके पास निर्गुण का आधार होने के कारण कृष्ण की लीला संवरण का दूषित प्रभाव नहीं पड़ा।

इस प्रकार हमारे यहाँ सगुण-निर्गुण परस्पर पृथक्-पृथक् नहीं, विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के सहयोगी एवं परस्पर में गुँथे हुए हैं। यही कारण है कि निर्गुणधारा जहाँ से चली है माने आदि शंकराचार्यजी की स्वयं की इष्टदेवी त्रिपुर सुन्दरी थी। उन्होंने पंचदेव की उपासना पद्धति प्रचलित की जिसमें गणेश, सूर्य, नारायण, शिव एवं दुर्गा आते हैं। सभी देवी-देवताओं एवं गंगा की स्तुति गायी। उनके शिष्य पद्मपाद के इष्ट देव नृसिंह भगवान थे। मधुसूदन सरस्वती के भगवान् कृष्ण इष्टदेव थे। आधुनिक युग में रामकृष्ण परमहंस की मां काली इष्टदेव, उन्हीं की कृपा से सब कुछ पाया। स्वामी रामतीर्थ के इष्टदेव भगवान् कृष्ण, डॉ. राधाकृष्णन के इष्टदेव भगवान् कृष्ण।

इस प्रकार हमारे यहां सगुण-निर्गुण में कोई संघर्ष नहीं वरन् सहायक हैं क्योंकि तत्त्वतः तो दोनों एक ही हैं। निर्गुण सगुण में कुछ भेद नहीं है तभी तो लोमश ऋषि सगुण का प्रतिपादन करते-करते निर्गुण में उनकी मनोवृत्ति निमग्न हो जाती है। और अगस्त्य मुनि निर्गुण से सगुण में पहुंच जाते हैं। कथा आती है काकभुशुंडि जब ब्राह्मण शरीर में थे तब एक बार वे लोमश ऋषि के पास पहुंचे और सगुण ब्रह्म के उपदेश की प्रार्थना की। लोभश ऋषि सगुण का प्रतिपादन करते-करते बार-बार वे निर्गुण ब्रह्म में पहुँच जाते हैं। पुनः काकभुशुंडि सगुण-ब्रह्म के प्रतिपादन की प्रार्थना करते। लोमश फिर सगुण ब्रह्म से प्रारम्भ करते हैं पर थोड़ी ही देर में पुनः निर्गुण का ही प्रतिपादन करने लगते.....। इस प्रकार उत्तम अधिकारी के लिये सगुण-निर्गुण का कोई भेद नहीं रह जाता है। इसलिये अगस्त्य निर्गुण का प्रतिपादन करते-करते सगुण में पहुंच जाते हैं और लोमश ऋषि सगुण का प्रतिपादन करते-करते निर्गुण में पहुँच जाते हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। 12/6

परन्तु जो समस्त कर्मों को मुझमें समर्पित करके, मेरे परायण होकर अनन्य योग से मेरा ही ध्यान करते हुए उपासना करते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्। 12/7

हे पार्थ! उन मुझमें समाहित चित्तवालों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूप संसार सागर से उद्धार करने वाला हो जाता हूँ।

इन दोनों श्लोकों में भगवान् सगुणोपासना की एक विशेषता को प्रकट कर रहे हैं।

जो समस्त कर्मों को मुझे समर्पित कर देता है। यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। 9/27 हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ दान देता और जो कुछ तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर। कृष्णापर्णस्तु। वह नहाना-धोना, खाना-पीना, सोना-जागना सब प्रभु को ही परम आश्रय मानकर, प्रभु के अतिरिक्त किसी को वरणीय एवं भजनीय नहीं समझता है। संन्यास का मतलब यहां कर्मार्पण है। जो सब कर्मों को मुझमें संन्यास करके 'मत्पराः' मेरे परायण होकर 'अनन्यैनेव योगेन' अनन्य योग के द्वारा 'मां ध्यायन्त उपासते' मेरा ध्यान करते हैं। मेरी उपासना करते हैं। उनके लिये मैं मृत्यु संसार सागर से पार कर देने वाला बन जाता हूँ। मैं स्वयं नौका स्वरूप हो जाता हूं। तो यहां पर भक्तों के लिये तीन विशेषण दिये हैं।

पहला तो सब कर्मों का संन्यास मुझमें कर दो। कर्मों का संन्यास (समर्पण) प्रभु में कैसे किया जा सकता है? इसका उपाय है स्वयं को कर्म का कर्ता मानना छोड़ दें। अपने अहं को छोड़ दे। उसके स्थान पर अपने इष्टदेव प्रभु को अपने केन्द्र में बैठा लेते हैं। वे ही कर्म के प्रेरक हैं। जैसा वे करवाते हैं वैसा मैं करता हूँ। अतः प्रभु ही कर्ता हैं तो प्रभु ही उसके भोक्ता हैं। प्रभु यंत्री हैं और मैं उनका यंत्र हूं। यंत्री जैसा नाच नचाता है यंत्र वैसा नाच नाचता है। वे जैसा चलाते हैं वैसा मैं चलता हूँ। यहां पर यही भाव है। मैं प्रभु के हाथों का यंत्र हूँ। वे जो प्रेरणा देते हैं, जो करवाते हैं वही मैं करता हूं। हम देखें रामचरितमानस में भरतजी से एक प्रश्न पूछा गया। आप तो कहते है आप तो प्रभु के इशारे पर नाचते हैं। प्रभु श्रीराम के संकेत पर आप क्रिया करते हैं। वे ही सब-कुछ हैं। पर आप जो प्रभु के इशारे पर नाचते हैं तो किस प्रकार नाचते हैं। भरतजी ने पूछा, तुम्हारे प्रश्न का तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में प्रश्न करने वाले ने कहा, देखिये! प्रभु तो दो प्रकार से नचाया करते हैं एक तो—नट मरकट इव सबहि नचावत। मानस 4/6/12 जैसे मदारी बंदर को नचाता है और दूसरा है—उमा दारू जोषित की नाईं, सब हि नचावत रामु गोसाई। मानस 4/10/4 जैसे सूत्रधार कठपुतली को नचाता है। तो भरतजी से पूछा गया आप प्रभु के संकेत पर नाचते हैं तो आप अपने को किस प्रकार का नाचने वाला मानते हैं। भरत ने तुरंत उत्तर देते हुए कहा, मैं अपने को कठपुतली के समान नाचने वाला मानता हूँ। क्या मतलब है? उन्होंने बंदर के समान नाचने वाला क्यों

नहीं माना। आप जानते हैं विशेषता। बंदर नाच रहा है, आप नाच को देखकर प्रसन्न होते हैं। बंदर नृत्य करता है, नाचते-नाचते थक जाता है। बंदर उतना ही नाचता है जितना उसने सीखा है। उसके बाद बंदर का नाच देखकर आप प्रसन्न हुए। आप उसे कुछ पैसा देते हैं तो बंदर अपने हाथ से ग्रहण कर सलामी ठोकेगा। यह भी आप देखते हैं। कठपुतली के नाच के साथ क्या है? कठपुतली भी नाचती है। पर कठपुतली कभी नहीं थकती। नचाने वाला थकता है। नचाने वाला जितना नचायेगा कठपुतली नाचती रहती है। कठपुतली कभी नहीं थकती, नचाने वाला थकता है और आप कठपुतली के नाच को देखकर खुश हो गये तो आप कठपुतली को पैसा नहीं पकड़ायेंगे। आप सूत्रधार को पैसा देंगे और कहेंगे वाह भाई, तुमने क्या बढ़िया कठपुतली का नाच दिखाया। यह जो अन्तर है उसमें भरतजी का भाव है। वह भाव ग्रहणीय है। भरतजी कहते हैं मैं तो कठपुतली के समान हूं। सारा श्रेय प्रभु को है। बंदर श्रेय ले सकता है इसलिये थकता भी है। कठपुतली को नाचने का श्रेय नहीं है। वह तो सूत्रधार को नचाने का श्रेय है। इस प्रकार भरतजी मानते हैं प्रभु श्रीरामजी सूत्रधार हैं, मैं उनके हाथ की कठपुतली, यंत्र, जैसा वे चलाते हैं वैसा मैं चलता हूं। तो यहाँ कहा गया 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' समस्त कर्मों का संन्यास मुझ में कर दे जो भक्त है। इसका मतलब भक्त अपने को कठपुतली माने। भगवान् के हाथ में यह समर्पण का भाव है। प्रभु ही हैं मुझे नचाते हैं। वे जैसा चाहें मुझसे वैसा काम करा लें। यह भाव साधना की स्थिति में हो। और जब सिद्धि की स्थिति आती है तो यही भाव परिपक्व हो जाता है। साधना की अवस्था में कभी वह भाव रहता है, कभी छूट जाता है। अभी रहेगा, थोड़ी देर बाद छूट जायेगा। जब वह परिपक्व अवस्था में आ जाता है तो वही भाव सतत बना रहता है। तो यहां पर कहा भक्त सारे कर्मों का संन्यास मुझमें करता है। मानो कर्मों का कर्तापन अपने ऊपर लेता नहीं है। मुझी पर डाल देता है। यह एक 'मत्पराः' मेरे ही परायण है। संसार में और किसी के परायण नहीं होता। वह केवल मुझे ही चाहता है। मैं ही उसके लिये श्रेष्ठ तत्त्व हूँ। परम श्रेष्ठ व्यक्ति हूँ। मुझसे बढ़कर और किसी को नहीं मानता।

और तीसरा है 'अनन्येनैव योगेन' अनन्ययोग के द्वारा मेरा ही चिन्तन करता है। ध्यान करता, उपासना करता है। अनन्य शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्य अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार करते हैं। अनन्य के तीन अर्थ क्रमशः एक दूसरे से ऊंचे बनते हैं। (क.) प्रभु के सिवा मैं अन्य किसी की भक्ति नहीं करूँगा। तुलसीदासजी ने अकबर के अपनी नवरत्न सभा में प्रवेश के निमंत्रण पर उत्तर दिया—

हम चाकर रघुवीर के पट लिखो दरबार।
तुलसी अब क्या होयेंगे नर के मनसबदार।।

ऐसा भक्त अपने इष्टदेवता के सिवा किसी दूसरे की भक्ति या उपासना नहीं करता। तुलसीदासजी ने भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख कहा—

कहा कहौं छबि आप की भले बने हों नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बाण लो हाथ।।

अनन्य भक्ति का दूसरा भाव है—प्रभु के सिवा मेरा कोई अपना नहीं है। सब ओर से ममता का धागा तोड़कर केवल भगवान् से जोड़ लेना अनन्य भक्ति का लक्षण है। मीरा बाई का कथन है—मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोय।

तुलसीदासजी का कथन है—गलेगी जिह्वा जो कहौं और के हैं। यदि मैं कह दूं कि राम के सिवा में किसी और का हूँ तो मेरी जबान गल जाय। ब्रज की गोपियां श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा या भक्ति करने के लिये प्रस्तुत नहीं है।

अनन्य भक्ति का तीसरा ज्ञानपरक अर्थ है—प्रभु को अपने से अन्य नहीं मानना। भेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच द्वैत का भेद बना रहता है। किन्तु अभेद उपासना में वह भेद दूर होकर भक्त और भगवान् के बीच अनन्यता, एक अभेदवृत्ति प्रकट हो जाती है। मानव का सबसे प्रिय अपना आप ही होता है। अन्य वस्तुओं का प्रेम इस 'मैं' पर टिके होने के कारण ही है। जिसको हम अन्य मानते हैं उसको अपने से अवश्य ही घटिया मानते हैं। इसलिये जब तक किसी के प्रति अन्य भाव बना रहता है तब तक वह पराया प्रतीत होता है। स्वार्थ के लिये अन्यों को लूटने-ठगने या शोषण करने की प्रकृति मानव में पैदा हो जाती है। यदि वह धनी बनना चाहता है, तो धन कहाँ से कमायेगा निश्चित ही अन्यों से। यदि वह शीघ्र धनी बनने के लिये कालाबाजारी करता है तो किनको लूटेगा निश्चय ही अन्यों को। यदि वह कम दाम देकर अधिक काम लेना चाहता है तो किनका शोषण करेगा? निश्चय ही अन्यों का। यदि अपने आराम के लिये दूसरों को साधन बनायेगा तब भी वह अन्यों का ही शोषण करेगा। इसलिये यह अन्य भाव ही मूलतः अन्याय का भाव है। जैसे माँ बेटे को अपने से भिन्न नहीं समझती इसलिये उसको लड्डू-पेड़े खिलाती है पर जैसे ही उसके पास उसका साथी आता है तो उसे भगा देती है। बेटा चाहता है कि उसकी मां उसके साथी को भी दे पर माँ भगा देती है क्योंकि वह उसे भिन्न समझती हैं। यदि भगवान् या इष्टदेव को भी अपने से अन्य मान लिया तो भगवान् से भी अन्याय होगा। इसलिये अभेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच भेद की दीवार गिर जाती है। प्रभु मेरे अन्य नहीं हैं, वरन् मेरे अपने आप हैं। प्रभु सच्चे मैं हैं। प्रभु की विस्मृति मेरा स्वयं के प्रति द्रोह है, प्रभु से प्रेम मेरा स्वयं से ही प्रेम है। प्रभु की भक्ति उस पर किसी भी

प्रकार का एहसान नहीं है वरन् मेरे अपने ही उद्धार की साधना है। प्रभु की प्राप्ति निजानन्द की उपलब्धि है, मेरी अपनी महामुक्ति है।

सगुणोपासक अपने प्रभु के सिवा किसी की भक्ति नहीं करता, प्रभु के अलावा किसी को अपना नहीं मानता। ईश्वर को छोड़कर दूसरा कुछ अपने जीवन में स्वीकार नहीं है। ईश्वर है तो सब-कुछ अच्छा लगता है भक्त को। ईश्वर नहीं है तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जैसे एक कथा आती है कि एक मेले में एक विधवा स्त्री अपने बच्चों को लेकर जाती है। मेला दिखाने के लिये बहुत आग्रह कर रहा था वह बेटा, माँ! चलो मेला दिखो दो। मेले में कितनी चीजें है। स्त्री के पास पैसा तो है नहीं। बेटा कहता है, माँ! मुझे यह खरीद दो। माँ कहती है, चल बेटा, यहाँ पर उतना अच्छा खिलौना नहीं है। उधर हम लोग देखेंगे उधर अच्छे-अच्छे खिलौने वाले बैठे हैं, उधर से खरीद दूँगी। किसी प्रकार बहलाना चाहती है लड़के को। थोड़ी देर बाद पुनः लड़के ने कहा, माँ तू मेरे लिये यह खरीद दे ना। माँ ने फिर से उसी प्रकार बहलाने की चेष्टा की—बेटा! अभी तो हम लोगों ने मेला देखना शुरू ही किया है। चल उधर एक से एक बढ़िया मिलेगा। उधर से खरीद दूँगी। किसी भी प्रकार लड़का बहल जाय! पैसा तो है नहीं। एक धनिक व्यक्ति भी पीछे-पीछे आ रहा था। उसे सुनकर अच्छा भी लगा, देखो इच्छा भी है, लड़का कह भी रहा है, माँ भी चाह रही है पर पैसा नहीं है। धनी व्यक्ति की इच्छा होती है पैसे मैं दे दूँ यह लड़के के लिये खरीद दो। अचानक भीड़ का एक रेला आता है बच्चा अलग छिटक गया, माँ कही दूसरी तरफ चली गई। और वह जो व्यक्ति था पीछे-पीछे आ रहा वह उधर ही गया जिधर छोटा-सा लड़का भी गया। लड़का तो रो रहा है माँ के बिना। माँ के पास जाऊँगा, माँ के पास जाऊँगा। कोई पूछता भी है तो बता नहीं पाता माँ का क्या नाम है। अब यह जो व्यक्ति था अब उस लड़के को चुप कराने के लिये उसके पास गया। और वह कहने लगा, देख बेटे, तुम्हें वह खिलौना पसन्द है ना चल मैं तुझे खिलौने ले देता हूँ। लड़का कहता है, नहीं, मैं माँ के पास जाऊँगा। मुझे माँ चाहिये। तरह-तरह से उसको बहलाने की कोशिश की कि तुझे वह पसन्द था तेरी माँ ने नहीं खरीदा। चल ले देता हूँ। खाने की चीज ले देता हूँ। पर उस लड़के को सब अलोना लगता है। वह केवल माँ को ही चाहता है। मैं माँ को ही चाहता हूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिये। जब तक माँ नहीं मिलती तब तक वह रोता है। माँ है तो उसको खिलौना भी चाहिये, खाने की चीज भी चाहिये। माँ नहीं है तो उसे किसी में रुचि नहीं है यही अनन्यता का भाव है। यदि ईश्वर मेरे साथ है तो संसार में जो भी चीज है, अच्छी है। ईश्वर नहीं है तो कोई भी चीज मेरे लिये ठीक नहीं है। सभी मेरे लिये अलोने हो जाते हैं। जैसे हनुमानजी को रामजी ने मोतियों की माला भेंट में दी। पर उसमें राम सीता नहीं तो वह माला

उनके लिये निरर्थक है। ऐसे ही भक्त के लिये ईश्वर है तो संसार ठीक है, उसकी कोई उपयोगिता है अन्यथा नहीं।

नाम की व्याख्या करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—शंकर भगवान् ने मानस को रचकर अपने मानस में रख लिया। समय पाकर उसे शिवा को सुनाया। इसलिये उसको रामचरितमानस कहते हैं। रामचरित भगवान् शंकर के मानस में उपजा। तो ऐसी कथा है कि भगवान् शंकर ने पहले ही रामचरितमानस लिख लिया था अपने मन में। और उसको सुनाया दो श्रोता को। एक श्रोता तो उमाजी थी। दूसरा श्रोता जहाँ पर कहा गया काक भुशुंडिजी को। अब यह बात तो समझ में आती है कोई व्यक्ति जन्म ले, क्रिया कलाप करे तो उसका चरित्र लिखा जाए यह ठीक है। पर अभी व्यक्ति ने जन्म ही नहीं लिया और उसका चरित्र लिख लिया गया। पहले लिख लिया गया बाद में उसके अनुसार किया जा रहा है। तो ऐसा कभी सम्भव है क्या? तो गोस्वामी तुलसीदासजी संकेत देते हैं, ऐसा सम्भव है। और वह सम्भव है नाटक में। नाटक कोई करता है तो पहले लिखा जाता है बाद में खेला जाता है। तो उनका संकेत यह है प्रभु श्रीराम नाटक कर रहे हैं। इसी को हम कहते हैं लीला। तो प्रभुजी अभिनय करते हैं उसको लीला कहते हैं। तो भगवान् शंकर ने नाटक लिखा। उस नाटक को खेलते हैं भगवान् श्रीराम। श्रीरामजी ने लीला की। शंकरजी दर्शन के लिये गये। तो प्रभु ने नेत्रों ही नेत्रों में संकेत में पूछा, प्रभुजी! नाटक आपने लिखा। खेल मैं रहा हूँ सब ठीक है तो। कहीं कोई त्रुटि तो नहीं है। शंकरजी ने कहा, महाराज! आप नाटक खेलें, आप अभिनेता हो, कहीं कोई त्रुटि हो सकती है। फिर भी कहा, देख लीजिये कहीं कोई न्यूनता हो तो बता दीजिये। महाराज! कोई न्यूनता नहीं किसी प्रकार मीन-मेख नहीं। तो ठीक है न आपने जैसा नाटक में लिखा कि आप जब मेरे दर्शनों के लिये मेरे पास आयेंगे तो सब ठीक यही रहेगा। आपने नाटक में यही लिखा है। शंकरजी ने कहा, जब आप इतना खोदकर पूछ ही रहे हैं, वैसे तो सब ठीक ही है। आपने जो झुगली पहनी है उसका रंग अलग है। नाटक में लिखा है पीत झुगलिया। आपके शरीर पर पीले रंग की झुगली होगी, इतना ही अन्तर है। प्रभु ने कहा, यह अन्तर भी क्यों रहे। वे रुदन करते हैं। कौशल्या आती हैं। प्रभु ने संकेत से कहा माँ को जहां कपड़े रखे हैं वहाँ ले चलो। माँ को लगा क्या हो गया। अभी तो मैंने कपड़ा बदला है। संकेत करते है। कपड़ा निकाला जाता है। जब पीले रंग की झुगली आती है तब प्रभु संकेत से कहते हैं यह मुझे पहनाओ। माँ ने पहले की झुगली निकाल दी, और पीले रंग की झुगली पहना दी। फिर तो माँ की गोद से मचल कर नीचे आते हैं, फिर आये आँगन में। शंकरजी से कहा, अब तो ठीक, नाटक में कोई कमी तो नहीं, त्रुटि तो नहीं। शंकरजी तो भाव के नेत्रों से देख रहे हैं। नेत्र छलछला आते हैं

कोई खामी नहीं। आप घुटनों के बल हाथों के सहारे थोड़ा मड़इया लेकर दिखा दें। तो प्रभु मड़इया लेते हैं। जाते हैं एक छोर से दूसरे छोर तक। पुनः जाते हैं। ताकि शंकरजी कहें, बस-बस। घुटने में भी पीड़ा हो रही है। अन्त में उन्हें कहना ही पड़ा हो गया न? और शंकरजी वहाँ से विदा लेते हैं। यह एक दृश्य रहा। भागते-भागते काकभुशुंडिजी आये, रास्ते में शंकरजी मिले और कहा मैं तो दर्शन करके आ गया। तुम नहीं आ पाये। जाओ, तुम भी कर लो। काकभुशुंडिजी आते हैं। आकर चरणों में प्रणाम करते हैं। कौआ तो कहीं भी जा सकता है। प्रभु ने वैसे ही नेत्रों ही नेत्रों में देखकर पूछा, कहो भुशुंडि नाटक तुमने भी सुना। सब ठीक तो है न जो अभिनय कर रहा हूँ। सब ठीक है लगता है। भुशुंडि ने भी वही बात कही, महाराज! आप नाटक करें और कोई खोट हो! रामजी ने कहा, पहले तो शंकरजी ने भी यही कहा कमी नहीं है। जब मैंने बारीकी से पूछा तब कहा, महाराज! कोई कमी तो नहीं पर यह जो झुगली पहने हैं इसका रंग भर दूसरा है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ कोई न्यूनता तो नहीं। काक भुशुंडिजी ने कहा, महाराज! जब आप इतना ही पूछ रहे हैं, झुगली को लेकर ही अन्तर है? तो क्या झुगली किसी और रंग की है। नहीं, झुगली तो पीले रंग की होगी। यह पीत झीणी झुगली होगी। यानी यह जो झुगली होगी वह झीणे कपड़े की होगी। अभी जो आपने झुगली पहनी है वह पीले रंग की है। कपड़ा मोटा है। नाटक में ऐसा लिखा है मैं जब दर्शनों को आऊँगा झुगली पीले रंग की तो होगी पर झीणे कपड़े की। आप का तो मोटा कपड़ा है? उससे आप के श्री अंगों का जो सौन्दर्य है वह ढक जाता है। दिखाई नहीं देता। अगर यह जो झीणा कपड़ा हो तो उसके माध्यम से आपके नील अंगों का सौन्दर्य कितना सुन्दर दीखेगा। तो प्रभु ने हँसकर कहा, अगर अंगों का सौन्दर्य ही देखना है तो मैं झुगली उतार देता हूँ। कहा, महाराज! नहीं-नहीं। यह उतारने का काम तो ज्ञानी करता है पर भक्त क्या चाहता है झुगली रहे, आवरण बना रहे। कपड़ा इतना मोटा भी नहीं हो कि भगवान् का दीखना बन्द हो जाय। पीले रंग की झुगली है या पीताम्बर है। प्रभु पीताम्बरधारी हैं। श्रीकृष्ण पीताम्बरधारी हैं श्रीराम पीताम्बरधारी हैं। पीताम्बर उनकी माया है। तो भक्त उनकी माया को स्वीकार करता है। पर यह नहीं चाहता कि माया का पर्दा इतना मोटा हो जाए कि भगवान् दीखना ही बन्द हो जायें। जब सनत्कुमार आदि आये अयोध्या में प्रभु ने उनकी अगवानी की और पीताम्बर को उतारकर बैठने के लिये दे देते हैं। अतः संकेत हैं पीताम्बर को उतार दिया। ज्ञानी के सामने पीताम्बर भी निकाल देते हैं, माया का आवरण हटा लेते हैं। भक्त माया के आवरण को हटवाना नहीं चाहता। वह चाहता है माया को। वह चाहता है संसार को। पर यह नहीं चाहता कि आवरण इतना मोटा हो जाय कि भगवान् का दीखना ही बंद हो जाय। वह आवरण के बीच से भगवान के सौन्दर्य

को देखना चाहता है। ईश्वर सतत दिखते रहें यही उसकी कामना है। ईश्वर है तो सब कुछ का अर्थ है और ईश्वर नहीं है तो किसी का कोई अर्थ नहीं है। यह इसका तात्पर्य है। वह ईश्वर को ही केन्द्र बनाकर चलता है। तो इसलिये कहा भक्त कैसा है? सब कर्मों का संन्यास मुझमें करता है। मेरे परायण है अनन्य योग के द्वारा और मेरा ध्यान करता है। मेरी उपासना करता है। ऐसे जो भक्त हैं—'तेषामहं समुद्धर्ता' मैं उसका सम्यक् रूप से उद्धार करता हूँ। मैं उसको ऊपर उठा देता हूँ। पतन के मार्ग से, पतित स्थान से मैं उसको अपने हाथों से उठाकर उसको नाव पर प्रतिष्ठित कर देता हूँ। 'मृत्यु संसार सागरात्' यह जो मृत्यु का संसार सागर है, केवल शोक है, दुःख, मरण है। उससे भवामि न चिरात्पार्थ' बिना विलम्ब के। भगवान् के यहाँ विलम्ब नहीं है। 'न चिरात्' बिना विलम्ब के 'मय्यावेशितचेतसाम्' जिसने पूरा चित्त मुझमें निविष्ट कर दिया है। उसका मैं उद्धार करता हूँ।

यहाँ सनातन धर्म की, हिन्दू धर्म की एक विशेषता पर ध्यान दीजिये। ऐसे भक्त को स्वयं भगवान् मृत्यु रूप संसार सागर से पार करवाते हैं। वे ही स्वयं नौका बनकर आते हैं। किसी दूत या नौकर को नहीं भेजते। इस्लाम में अल्लाह स्वयं नहीं आते दूतों से काम चलाते हैं। इस विषय में एक कथा चलती है। अकबर बीरबल से प्रश्न करता है भगवान् को स्वयं भक्त के उद्धार के लिये आने की क्या आवश्यकता? किसी दूत से ही यह काम हो जायेगा। जो काम सामान्य कर्मचारी कर सकता वही काम प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति करे तो यह मूर्खता है। बीरबल मौन रहा। एक दिन जल विहार को गए। बीरबल के हाथ से अकबर का पुत्र जल में गिर गया। अकबर तुरन्त जल में कूद पड़ा। फिर बीरबल की जिज्ञासा पर अकबर कहता है, मेरे पुत्र को बचाने में नौकर प्रमाद कर सकते थे। नौकर को आज्ञा दूँ इसमें विलम्ब भी हो सकता था—तब बीरबल ने कहा वैसे ही हम सब भगवान् के पुत्र हैं इसलिये भगवान् स्वयं आते हैं। केवल हिन्दू धर्मियों का ईश्वर ही स्वयं आता है। यह इस धर्म की, इस देश की विशेष महिमा है। ऐसे अनन्य भक्तों का योगक्षेम स्वयं भगवान् वहन करते हैं। जैसे गोदी के शिशु की सारी चिन्ता माँ ही करती है, वह माँ के अलावा कुछ नहीं जानता। पत्नी भी पति एवं घर के प्रति समर्पित होती है अतः पति उसका योगक्षेम वहन करता है। इस सन्दर्भ में एक कथा चलती है। एक अकिञ्चन पण्डितजी को यह बात जंची नहीं कि स्वयं भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं। वे यह काम तो किसी भक्त को प्रेरित कर करवा सकते हैं। अतः श्लोक को लाल स्याही से चिह्नित कर दिया—फिर अपनी त्रुटि का सुधार किया। तो अनन्य भक्त का योगक्षेम स्वयं भगवान् अपने कंधों पर लेते हैं। भगवान् ही उसके लिये कुली, दास, सारथि बनकर उसकी रक्षा करते हैं। तो भगवान् स्वयं अनन्य भक्त का उद्धार करते हैं। और निर्गुणोपासक के लिये कहा गया वे स्वयं ही

मुझे प्राप्त होते हैं। सगुणोपासक को भगवान् स्वयं भवसागर से तारते हैं। और वे स्वयं भवसागर से तैरकर भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। ये हो गये बंदर के बालक के तुल्य। और वे हो गये बिल्ली के बालक के तुल्य। एक को स्वयं भगवान् तारते हैं, उनको भगवान् का बल प्राप्त होता है और ज्ञानी स्वयं भवसागर को उत्तीर्ण होकर मुझे प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार भगवान् के दो पुत्र हैं—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी।। मानस 3/42/9

दोनों का प्राप्ति स्थान दोनों का प्राप्तव्य मैं ही हूँ। अन्तर यह वो स्वयं मुझको प्राप्त होते हैं और उनको स्वयं मैं प्राप्त होता हूँ। एक स्वयं भवसागर को तर जाता है और एक को चतुर नाविक तार देता है। भक्तों को सगुण उपासकों को भगवान् स्वयं तार देते हैं। और ये स्वयं तर जाते हैं। लोग कहते हैं नौका है Steamer है फिर ये तैराक लोग क्यों तैरते हैं। अरे भाई, पुल तो है, नौका तो है, Steamer भी है सब-कुछ माना। लेकिन तैराकों का अपना दिल भी तो है। उससे तैरे बिना थोड़े रहा जायेगा। सबकी हिम्मत एक सरीखी नहीं होती है। तो कोई-कोई ऐसा साधक होता है, निर्गुणोपासक स्वयं भवसागर से तर जाता है, भगवान् को प्राप्त कर लेता है। और जिनमें इतना बल नहीं है, तो भगवान् के भरोसे, भगवान् का भजन करते रहते हैं, उनको स्वयं भगवान् भवसागर से तार देते हैं।

आठवां श्लोक जो है वह द्वादश अध्याय का मूल श्लोक है। द्वादश अध्याय में दो उपासना बतलायी गयी एक सगुणोपासना और एक निर्गुणोपासना। और सगुणोपासना जो सबसे निरापद मार्ग है, सगुणोपासना जो राजमार्ग (आममार्ग) है, सगुणोपासना का जो मूल तत्त्व है वह आठवें श्लोक में है। द्वादश अध्याय का सर्वोपरि श्लोक आठवां श्लोक है। इस अध्याय में सगुणोपासना की चार विधियां बतायी गई है उसमें जो सबसे बड़ी विधि है वह आठवां श्लोक है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

तू मुझमें ही मन को स्थापित कर, मुझमें ही बुद्धि को निविष्ट कर। इसके पश्चात् तू मुझमें ही निवास करेगा इसमें सन्देह नहीं है।

इसमें भगवान् ने भक्ति का बड़ा सरल और स्पष्ट मार्ग बता दिया है अन्य किसी प्रकार के फूल से पूजा न करके केवल दो फूल ही मुझे चढ़ा दो—एक मन का फूल दूसरा बुद्धि का फूल। भगवान् को धन नहीं चाहिये क्योंकि वे स्वयं ही तो लक्ष्मीपति हैं। स्वयं लक्ष्मी जिनके चरणों को पलोटती रहती है। पर भगवान् के पास मन नहीं है, क्योंकि भगवान् का मन तो गोपियों ने चुरा लिया है। भक्तों ने

चुरा लिया है, अतः भगवान् अमना होकर रह गये हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मुझे तो मन और बुद्धि रूपी सिर्फ दो फूल चढ़ा दो।

मन और बुद्धि जीवन रूपी नौका के डांड़ और पतवार हैं। बुद्धि जो है पतवार है वह दिशा निर्धारित करती है और डांड़ चलाता रहता है, नाव को खेता है।

तब प्रश्न है मन और बुद्धि क्या फूल की तरह स्थूल वस्तु है और भगवान् कोई स्थूल तिजोरी की तरह जिसमें मन और बुद्धि को रख देवें जैसा कि रुपया-पैसा गहना रखते हैं।

मन तो संकल्पात्मक-विकल्पात्मक है। एक वृत्ति के बाद दूसरी वृत्ति उठती रहती है। पहले संकल्प फिर उसका उलटा विचार विकल्प। फिर बुद्धि विचार करती है, लाभ-हानि का विचार कर निर्णय देती है। संकल्प उठा यह बहुत गरीब है सहायता करनी चाहिये। बुद्धि ने देश में बहुत गरीब लोग हैं किस-किसकी सहायता करोगे। इस प्रकार मन निरन्तर चलायमान रहता है।

तब फिर क्या उपाय है मन मन्दिर में प्रभु को बैठाने का। एक नवयुवती ने पहले बच्चे को जन्म दिया। आफिस में काम करती है। कितना दिन छुट्टी लेगी। अब इसके बाद आफिस जाती है। बॉस डिक्टेशन देते हैं, डिक्टेशन लेती है, काम करती है। परन्तु अब क्या हुआ? अब तो मन उसका बच्चे के पास पड़ा है। हर बार जहाँ थोड़ी-सी फुरसत मिली कि मन बच्चे के पास चला जाता है। मन का एक भाग उसका हरदम बच्चे के पास पड़ा हुआ है। जैसे ही थोड़ी-सी फुरसत मिली मन एकदम से कूदकर बच्चे के पास चला गया। तो हम यह संसार में देखते हैं।

वही माँ अपने शिशु को लेकर सोयी हुई है, बाहर आँधी अंधड़ वर्षात है, बिजली चमक रही है। माँ की नींद नहीं खुलती पर वही शिशु थोड़ा सा पों-पों किया तो तुरन्त नींद खुलती है या नहीं। तो ऐसा क्यों होता है। क्योंकि मन में शिशु बैठा है। पत्नी चाहे जितना कार्य करे, व्यस्त रहे, पति की स्मृति सदैव बनी रहती है या नहीं। तो ऐसा क्यों होता है क्योंकि पति उसके मन में बैठा है।

तो ऐसे ही ईश्वर को मन में बैठा लेवें। संसार के कार्य करें, परिवार के कार्य करें पर प्रभु की स्मृति बनी रहे और जब कोई काम न हो तो प्रभु की स्मृति में ही खो जायें। रामकृष्ण देव कहा करते थे एक हाथ से संसार का कार्य करें और एक हाथ से प्रभु को भजो, जपो और जब कोई काम न हो तो दोनों हाथों से भजो।

वैसे ही बुद्धि के विषय में सोचें कि प्रभु ने ही विचार की शक्ति दी है, प्रभु ही प्रेरणा देते हैं। वे यन्त्री हैं मैं तो यन्त्र मात्र हूँ—उनका आज्ञापालक विश्वासी सेवक। इस विधि से मन और बुद्धि को भगवान् को समर्पित कर मन और बुद्धि को भगवान् में रखें। और जहाँ मन और बुद्धि का वास है वहीं मनुष्य का वास है। मन

और बुद्धि जहाँ होते हैं वही मनुज होता है। मन और बुद्धि समन्वित रूप से अगर प्रभु में लग गए तो हम प्रभु में ही निवास करेंगे। इसमें कोई संशय की बात नहीं है। यह बिल्कुल असन्दिग्ध है। प्रभु स्वयं अपने हृदय में स्थान देंगे। स्वयं भगवान् ही हमारे भक्त हो जायेंगे। भगवान् हमारे चिर ऋणी बन जायेंगे जैसा कि हनुमानजी के बन गये। भगवान् अपने भक्तों की पूजा करते हैं। नारद ने देखा भगवान् के मन्दिर में सबसे ऊपर हनुमान की मूर्ति है। किसी भी सांसारिक मानव की, टाटा बिड़ला की कितनी भी सेवा करें, मन-बुद्धि उनकी सेवा के लिये समर्पित हो फिर भी वे क्या हमें अपने हृदय में स्थान देंगे। अपने पुत्र की तरह व्यवहार करेंगे, कदापि नहीं। वह तो सदैव Staff का ही स्थान देंगे। अक्सर तो वे आपको जानते ही नहीं होंगे, पहचानते ही नहीं होंगे। तो ऐसा फल संसार की भक्ति से नहीं मिल सकता। बिड़ला भक्ति से खुश होकर एक फ्लैट अलॉट कर देगा किन्तु वह अपने समकक्ष या अपने से ऊपर कभी स्थान नहीं देगा। अपने साथ नहीं सुलायेगा। परायापन सदा बना रहेगा।

राजनेता लोग अपने भक्तों से जायज-नाजायज सब काम करवा लेते हैं और फिर दूध में से मक्खी की तरह निकालकर फेंक देते हैं।

तो जो मन और बुद्धि भगवान् को समर्पित कर देता है। क्योंकि मन और बुद्धि से ही तो कर्म होता है। तो मन और बुद्धि सहित कर्म का परिवार भगवान् के प्रति समर्पित हो गया तब भगवान् न केवल अपने हृदय में स्थान देते हैं वरन् वे स्वयं ही भक्तों के भक्त बन जाते हैं।

एक बार अर्जुन भगवान् कृष्ण से मिलने गये तो देखा भगवान् ध्यान कर रहे हैं। तो अर्जुन ने पूछा, सारी दुनिया आपका ध्यान करती है आप किसका ध्यान करते हैं। तो प्रभु कहते हैं, मैं भक्तों का भक्त हूँ, दास हूँ। मैं उनका ध्यान करता हूँ। शरशय्या पर पड़े भीष्म मुझे याद कर रहे हैं। कभी-कभी भगवान् को अपने भक्तों से हार माननी पड़ती है। चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—हम तो भगवान् का ध्यान करके मुक्त हो जाएंगे पर भगवान् किसका ध्यान कर मुक्त होंगे। इस प्रकार कभी-कभी भक्त भगवान् को भी ठग लेते हैं। निरुत्तर कर देते हैं। सर्वतोभावेन मन समर्पित करने से तुरन्त आत्मज्ञान हो जाता है।

अष्टावक्र-जनक की कथा। अष्टावक्र का जनक के यहां आगमन-जनक द्वारा आत्मज्ञान की याचना मुझे गुरु के रूप में स्वीकार कर रहे हो या अन्य कुछ तब अपने राजसिंहासन पर बैठाया। दान की पात्रता है तो राज्य समर्पित कर दिया, दक्षिणा चाही तो धन, राजकोष पहले दान कर देने से अपना मन दान कर दिया। मन दान करते ही उनके विचार शान्त हो गये, क्योंकि मन उनका रहा नहीं, मन-विचार के शांत होते ही उन्हें आत्मज्ञान हो गया।

हमारे यहाँ चार प्रकार की मुक्ति मानी गयी है—सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सादृश्य। सायुज्य में आत्मा परमात्मा में लय हो जाता है। यह अद्वैत वेदान्त की मुक्ति है। सालोक्य का अर्थ है—उनके (प्रभु के) लोक में निवास करना। तो श्लोक में जो 'निवसिष्यसि मयि एव' मुझमें ही निवास करेगा। मेरे हृदय में वास करने का अर्थ है मेरे निकट वास करना है। हम कहते हैं तू तो मेरे हृदय में है यानी तू मेरे अति निकट है। तो यहाँ सामीप्य मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। प्रभु के सदृश विग्रह (देह) प्राप्त करना सादृश्य मुक्ति है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय। 12/9

इस श्लोक में दो बातें बतायी है—1. अब यदि मुझमें चित्त को स्थिर करना शक्य न हो, 2. तब हे अर्जुन, अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा रखो।

इस श्लोक में मन और बुद्धि को एक ही में कहने के लिये चित्त कह दिया गया। ऊपर के श्लोक में मन-बुद्धि कहा है। उसी मन और बुद्धि को यहाँ चित्त कह दिया गया है।

भगवान् अर्जुन की और हम सबों की कठिनाई को जानते हैं। मन मन्दिर में संसार को तो बैठाया जा सकता है क्योंकि वह दृष्ट है, तत्काल फल मिलता है, प्रत्युत्तर मिलता है। मन मन्दिर में सांसारिक रिश्ते तो सहज एवं स्वाभाविक हैं, स्वतः बैठ जाता है, क्योंकि युगों से हमारी संसार के प्रति ममत्व बुद्धि है, आसक्ति है पर भगवान् संसार की तरह तो कोई दृष्ट वस्तु नहीं जिससे तत्काल दृष्ट फल, प्रत्यक्ष लाभ या तत्काल प्रत्युत्तर प्राप्त होवे। अतः उनमें हम अपना आकर्षण अनुभव नहीं करते हैं। यह व्यावहारिक कठिनाई भगवान् जानते हैं फिर मन को वश में करना कितना कठिन है यह छठे अध्याय में अर्जुन निवेदन कर चुका है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। 6/34

क्योंकि हे कृष्ण! यह मन (बड़ा ही) चंचल, प्रमथनशील (अर्थात् देह और इन्द्रियों को क्षुब्ध करने वाला) बलवान और दृढ़ है उसको वश में करना मैं वायु (को रोकने) की भाँति अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

यह बात कौन कह रहा है? अर्जुन। आचार्य द्रोण द्वारा परीक्षा काल में कहता है मुझे तो सिर्फ पक्षी की आँख ही दिखती है, इसके अलावा कुछ नहीं। जिस संसार के प्रति ममत्व बुद्धि उसमें भी मन एक स्थान पर अधिक समय तक एकाग्र नहीं रहता तब भगवान् के प्रति कैसे हो? भगवान् तो कोई दृश्य वस्तु नहीं

हैं और न यहां हमारे प्रेम का कोई तुरंत प्रत्युत्तर ही मिलता है इस कठिनाई को अन्तर्यामी भगवान् समझते हैं इसलिये भगवान् कहते हैं—

मन और बुद्धि रूपी फूल मुझे समर्पित करने में असमर्थ हो तो अपने चित्त को मेरे में एकाग्र करो। इसमें असमर्थ है तो मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर। क्योंकि मन और बुद्धि को समर्पित करने के पहले देखना होगा कि वह हमारे वश में है क्या? जो हमारे वश में नहीं उसका समर्पण कैसे कर सकते हैं।

मन बंदर के समान चंचल है। यदि जंगल के किसी बंदर को हम किसी दूसरे व्यक्ति को भेंट करना चाहें तो बिना उसे वश में किये क्या दूसरों को भेंट कर सकते हैं। यदि हम किसी को कहें कि कोलकाता के सुन्दरवन का अमुक शेर आपको भेंट करता हूँ तो भेंट लेने वाला अचम्भे से पूछेगा क्या भेंट की गई वस्तु भेंट करने वाले के वश में है? जो वस्तु हमारे वश में नहीं है उसे दूसरे को कैसे समर्पित किया जा सकता है। जिस बंदर को समर्पित करना चाहते हैं पर बंदर उसके पास नहीं। जंगल भाग गया या वैसी भूमि समर्पित करना जो पाकिस्तान में छूट गयी है, या कागजात जल गये हैं। अतः प्रथम में मन को वश में करना होगा अभ्यास-वैराग्य एवं ध्यान के द्वारा।

हम जन्म से ही बहिर्जगत से परिचित हैं और बहिर्जगत के विषयों को भोगा है, हमारी इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी हैं। अन्तर् में तो जाने का रास्ता बनाना पड़ता है। जब किसी अच्छे सद्‌गुरु के सम्पर्क में आते हैं, उनसे प्रभावित होते हैं, उनके बताये मार्ग में चलने की प्रवृत्ति होती है तब हम अन्तर् में जाने का मार्ग बनाते हैं। उसके पूर्व तो बहिर्जगत और उसके विषय से ही परिचित होते हैं। और मन हमारा बार-बार इन्द्रियों के विषयों की ओर और नित्य नये विषयों की ओर भागता है तो इससे मुक्त होकर अन्तर् में जाने का मार्ग बना सकें इसके लिये भगवान् ने अर्जुन को प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—

असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। 6/35

हे महाबाहो! यह निस्सन्देह है कि मन चंचल है और कठिनाई से वशीभूत होने वाला है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा यह वशीभूत होता है।

तो मन जो बार-बार इन्द्रियों के विषयों की ओर भागता है। अतः उसे विषयों की गुलामी से छुड़ाना होगा। इसके लिये वैराग्य का सहारा लें। संसार एवं संसार के विषय भोगों के प्रति यथार्थ दृष्टि या दोष दृष्टि से निहारें।

संसार के जो रचयिता हैं, निर्माता वे स्वयं साक्षी दे रहे हैं गीता के आठवे अध्याय के 15वे श्लेक में—संसार अनित्य है, अशाश्वत एवं दुःखों का आलय

है तो जो जगत स्वयं ही अचित, अशाश्वत एवं दुःखों का आलय है वह हमें कैसे कृतार्थ कर सकता है। जगत में हमें कृतार्थ करने की क्षमता होती तो हम कब के कृतार्थ हो गये होते क्योंकि हम अनादि काल से जगत के अभ्यासी हैं। जगत में कृतार्थ करने की क्षमता होती तो हमारा वर्तमान जन्म ही क्यों होता? अतः जगत में कृतार्थ करने की क्षमता नहीं है। संसार का कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो सर्वतोभावेन, सर्वदा के लिये हमारे मन को रमा सके—न तो संसार का कोई भी सम्बन्ध ही चाहे वह पत्नी हो पुत्र हो, अन्य कोई भी हो, मन हमारा सदैव विषय से विषयान्तर को प्राप्त होता रहता है क्योंकि विषय में रस की प्राप्ति नहीं होती तो दूसरे विषय में लपकता है।

वस्तुतः, विषय भोग एक बार तो सुख देते प्रतीत होते हैं पर अन्त में क्या देखते हैं वे सुख नहीं देते वरन् हमारी इन्द्रियों के तेज को हर लेते हैं। हम क्या विषयों को भोगें उन्होंने ही हमें भोग लिया—इसके साक्षी भृतहरि, ययाति ही नहीं हम-आप सभी की हैं।

फिर सुख तो थोड़ा प्राप्त होता है और बाद में केवल स्मृति शेष रह जाती है पर उसके परिणाम स्वरूप पहाड़ जैसा दुःख सामने खड़ा हो जाता है—साक्षी बवनसिंह, दिल्ली कार्यालय में एक कार्यकर्ता का वक्तव्य। थोड़े सुख के लिये जिम्मेदारी का पहाड़ खड़ा कर लिया अब उनको सही ढंग से पालने के लिये दिन-रात शरीर को गलाना पड़ रहा है। वैसे दुर्गा दादीजी एवं फूफाजी का वक्तव्य।

मानव शरीर में जीवन मूल्य मापन का यन्त्र लगा हुआ है। फिर सब सुख अन्त में दुःख में बदल जाता है, सब प्रिय संयोग वियोग में बदल जाता है, सब जय पराजय में, सब जीवन अन्त में दुःखदायी मृत्यु में बदल जाता है—

जो मिठाई हमें अपनी ओर आकर्षित करती है उसमें विष मिला हुआ हो, और इसकी हमें जानकारी हो जाय तो क्या उस मिठाई में हमारी प्रवृत्ति होगी? विवेक का दीपक जलायेंगे तो संसार एवं संसार के विषय भोगों के प्रति यही स्थिति दृष्टिगोचर होगी।

अतः वैराग्य के द्वारा पहले संसार और उसके विषय भोगों के प्रति आसक्ति को, आकर्षण को दूर करना होगा।

जैसे जंगल में खेती करनी है तो झाड़-झंखाड़ की सफाई करनी होती है, वैसे ही वैराग्य द्वारा संसार रूपी विषय भोगों के झाड़ झंखाड़ की सफाई करें। फिर भक्ति का बीज वपन कर उसे उचित खाद-पानी द्वारा विकसित करें। अभ्यास के द्वारा नयी खेती उगाई जाती है। झाड़-झंखाड़ के लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता,

वह तो स्वतः ही उग जाती है, वह न उगे उसके लिये वैराग्य। अपने अनुकूल खेती के लिये अभ्यास आवश्यक है।

वैराग्य के कारण मन धीरे-धीरे विषयों से लौटने लगेगा। पूर्व संस्कारवशात मन जायेगा पर धीरे-धीरे मन उस ओर से मुख मोड़ने लगेगा। तब मन को दिशा देनी होगी। तब मन को अन्तर्मुख होने, अपने मूल की ओर लौटने के लिये अभ्यास के द्वारा मार्ग बनायें इसके लिये मन को आधार चाहिये। अगर आपने बाह्य विषय छीन लिया तब मन अन्तर विषय की ओर अपने आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने लगेगा क्योंकि मन बिना आधार के नहीं रह सकता।

अभ्यास का मतलब क्या है? 'तत्र स्थितो यत्नो अभ्यासः' जिस स्थिति में हम जाना चाहते हैं उसके लिये प्रयत्न करते रहना अभ्यास है। जो सगुण स्थिति में जाना चाहते हैं उनके लिये सगुण का ध्यान करना, सगुण में मन लगाना, उसमें निरन्तर मन लगा रहे इसका प्रयास करना अभ्यास से । जो निर्गुण में जाना चाहते हैं उनके लिये निर्गुण। करत करत अभ्यास जड़मति होत सुजान। रसरी के आवत जात सिल पर परत निसान।

रस्सी आते-जाते कोमल रस्सी से पत्थर में निशान बन जाता है। आप लोगों ने देखा होगा पत्थर में गड्ढ़ा पड़ जाता है। कुएँ पर गाँव की स्त्रियाँ रस्सी खींचती है वहाँ गड्ढ़ा पड़ जाता है, निशान पड़ जाता है। तो रस्सी से पत्थर पर निशान पड़ सकता है तो हमारा-आपका मन भगवान् की ओर क्यों नहीं जा सकता?

अभ्यास की महिमा है कि असाध्य से असाध्य सरीखे कार्य भी सध जाते है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ओलिम्पिक, सर्कस आदि के खेल अभ्यास का ही तो परिणाम हैं। रत्नाकर डाकू का महर्षि वाल्मीकि बनना अभ्यास का ही तो परिणाम है। पाप की अधिकता के कारण वे तो सही रूप में भगवन्नाम भी नहीं ले पाते थे। हम तो निश्चय ही उतने पापी नहीं हैं।

फिर जो बातें अभ्यास को पुष्ट करे उसके अनुकूल चिन्तन भोजन, साधु संग, ग्रन्थ पाठ आदि करें।

बार-बार मन और बुद्धि को समझावें और बतावें तू अपने मूल को पहचान। अपने मालिक को पहचान। गुरु नानक देव कहते हैं मन तू ज्योत स्वरूप है तू अपना मूल पिछान।

मन तो हमारा है ही नहीं वह तो प्रभु का ही है। उसी ने हमें तन, मन, धन, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं आत्मा का प्रकाश दिया है। हम विवेक से निश्चय कर लेते मन तो उसी का है। उसी ने हमें कुछ काल के लिये लोक व्यवहार के लिये दिया है। प्रभु की अमानत प्रभु को ही लौटा दें।

मन रूपी बन्दर बड़ा चंचल है, वश में रहता नहीं इसलिये मन रूपी बंदर को उसके मालिक को ही लौटा दें जिससे हमारी झंझट भी समाप्त हो जाय तथा प्रभु की अमानत भी प्रभु को मिल जाय। इसलिये जब-जब मन उत्पात करे, कुछ चेष्टा करे, हम प्रभु का नाम लेकर स्मरण करें। मन को याद दिलायें तेरा स्वामी सर्वशक्तिमान है। तू उसी के आदेश से कुछ समय के लिये हमारे पास आया है तुझे वापस प्रभु के पास जाना है। नौकर कितना भी उत्पात करे मालिक का नाम सुनते ही शान्त हो जाता है।

मन जो जीवात्मा को नचाता रहता है वह अपने मालिक परमात्मा का नाम सुनते ही, उसका ध्यान करते ही शान्त हो जाता है। भक्ति में नाम स्मरण का यही महत्त्व है। मन को निरन्तर अपने स्वामी की याद बनी रहती है और उसके उत्पात रुक जाते हैं।

फिर तो एक समय ऐसा आयेगा कि मन भगवान् में, अन्तर् में इतना रम जायेगा कि संसार में आना ही नहीं चाहेगा। फिर लोक-व्यवहार के लिये जबरदस्ती मन को जगत में लाना पड़ेगा। विवेकानन्द को गुरु आदेश से मन को बाहर लाना पड़ा। फिर तो मन को जब भी खाली समय मिलेगा ध्यान में जाना चाहेगा। ध्यान में खोना चाहेगा। यह रस आवत वह रस नहीं भावत। यह बात हम गोपियों में, गुरु नानक देव, बंदा बैरागी में पाते हैं।

मन की एकाग्रता तथा मन में प्रभु का नाम स्मरण मन के संकल्पों को शुद्ध करके प्रभु को समर्पित करना, मन के क्रिया-कलाप पर बुद्धि-विवेक का अंकुश रखना तथा मन को अपने वास्तविक स्वामी का स्मरण कराते रहना ये भिन्न-भिन्न उपाय हैं।

इस प्रकार जो मन-बुद्धि जो संसार के कार्य-व्यवहार में अपनी बड़ी चातुरी दिखाती है इसे यदि आत्मविषयिन्-ब्रह्मविषयिन् बनाया जाय तो यह शुद्ध होकर प्रभु में निवेशित हो जाती है। फिर तो वह आत्मा-परमात्मा को छोड़कर बाहर जाना ही नहीं चाहेगी।

इसके लिये प्रथम में निरन्तर अभ्यास करना पड़ेगा। मन चंचल होने के कारण बार-बार इधर-उधर भागता है। जब-जब मन भागे तो उसे पुनः खींचकर पुनः मेरे में लगावे। यह कार्य कठिन अवश्य है पर अभ्यास से सिद्ध होता है—गीता में कहा गया है जहाँ मन जाता है वहाँ से मन फिर लाकर स्थापित करो। जो हमने एक केन्द्रीय विचार बना लिया है उस केन्द्रीय विचार से मन भागेगा, पुनः उसको लाओ। रखो। फिर-फिर भागेगा पुनः-पुनः इसे लाओ। यह बहुत उबाऊ प्रक्रिया है। यह बहुत बोरिंग प्रक्रिया है। किन्तु साधना है यही। तो मन बार-बार भागता है, पुनः-पुनः लाना पड़ता है तो इसमें कई जन थक जाते हैं। वह पहले ही Out हो

जाता है उबाऊ प्रक्रिया के द्वारा। इतना भागता है कि कब-कब लायें। भाई एक-दो बार हो तो ठीक है यह तो क्षणभर में भागे फिर लाकर रखो, फिर भागे, फिर लाकर रखो। यह अपने से जमता नहीं है। तो यह कहा जिनसे अभ्यास योग जमता नहीं है। तो यहाँ कहाँ अभ्यास योग का मतलब क्या है? बारम्बार चित्त को भगवान् में लाकर रखना। बार-बार मन भागेगा, बार-बार पकड़कर लाओ यह जो है मानो हम मन के दो भाग बना लेते हैं। एक भाग वह है जो मन की निगरानी करता है। जो निगरानी करने वाला भाग है उसको कहते देख, इसको देखना कहीं भागे नहीं। प्रभु के चरणों में ही रहे। फिर आप देखते हैं भागने वाला मन ऐसा भागता है कि चौकीदार को भी ले जाता है। दोनों ही गये। पता नहीं बाजार में घूमते रहे हैं और अचानक खयाल आया अरे मैं भगवान् की प्रार्थना के लिये बैठा चौकीदार भी भाग गया और ज्यों ही पकड़ में आया, जहाँ मन को पकड़ा कि मन कूदकर आ जाता है। यह मन का स्वभाव है, मन की विशेषता है। मन को आपने पकड़ा कि मन अपनी जगह आकर खड़ा हो गया। आया, हमने रखा फिर थोड़ी देर बाद चला गया चौकीदार को साथ में लेकर। तो फिर वापस लाना है। तो है न बहुत उबाऊ प्रक्रिया। पर हम बार-बार अभ्यास करते रहें तो दो प्रकार से लाभ होगा। जैसे मान लीजिये भागे हुए मन को लाकर मैं टिकाता हूँ और फिर भागता है। यहाँ पर अगर अभी दो मिनट बैठता है अभ्यास करने से ढाई मिनट बैठेगा, फिर तीन मिनट बैठेगा, इसी प्रकार बैठने की जो अवधि है वह बढ़ती जायेगी। अब यहाँ से मन भाग गया, भाग गया तो मैं बाजार में घूम रहा हूँ, मन तो भूल गया, बाद में फिर खयाल आता है मैं जो दो मिनट तक भगवान् को भूला रहता हूँ और मन बाजार का चक्कर मारता रहता है तो अभ्यास के द्वारा वह अवधि कम होती जायेगी। डेढ़ मिनट में ही मन को पकड़ लेता हूँ फिर अभ्यास करने से एक मिनट में ही मन को पकड़ लेता हूँ। ऐसा अभ्यास होता है कि आधा मिनट भागा है कि पकड़ लेता हूँ। और ऐसा भी अभ्यास होता है मन में बाहर जाने की प्रवृत्ति आयी कि मैं पकड़ लेता हूँ। मन बाहर नहीं जा पाता यह अभ्यास योग का तात्पर्य। वह अवधि घटती है जिसमें मन भागता है और वह अवधि बढ़ती है जिसमें मन भगवान् में बैठता है तो दोनों क्रियाएँ साथ-साथ में सम्पन्न होती हैं तो अभ्यास योग का मतलब यही है।

इस प्रकार रमते-रमते मन रमता है। धीरे-धीरे मन रमेगा। नहीं रमता तो कोई बात नहीं। रमाने के लिये, प्रयास तो करो, अभ्यास तो करो, मचल तो दिखाओ। फिर क्या होता है? होता यह है अब कोई गाना-बजाना करने लग जाय, कोई एक बहुत बड़ा गायक हो, उसके सामने संगीत शास्त्र की मर्यादा तोड़कर इधर-उधर गाने लगे तो वह कहेगा चुप रहो। ऐसे गाया जाता है। ऐसे ही भक्त अपनी ओर से प्रयास करता है, साधन करता है, हाथ मारता है, भगवान् देखते हैं कि इसके किये

कराये कुछ बनता नहीं, मचल बहुत बढ़िया है। तब भगवान् स्वयं कहते हैं ऐसे मेरा भजन किया जाता है। वह बल देकर और वह अपने में मन को रमा लेते है। भगवान् कोई ऐसी झाँकी छोड़ जाते हैं बस वह झाँकी भक्त के चित्त का हरण कर लेती है। जब हरण कर लेती है तो मन लग जाता है। भगवान् ने कहा, रमाने के लिये अभ्यास तो करो। रमते-रमते रमेगा नहीं तो जायेगा कहाँ?

भगवान् रस स्वरूप हैं और मन रसिक है। आज नहीं सही कल, कल नहीं सही परसों, भगवद् रूप में मन रमे बिना रहेगा नहीं।

अर्जुन ने कहा, महाराज! यह भी नहीं सध पावे तो। क्योंकि अभ्यास करना भी सबके वश की बात नहीं। बंदर और वायु को मात देने वाली चंचलता जिस मन में प्रतिष्ठित है, कर्म का वेग इतना प्रबल है वे बैठकर रह ही नहीं सकते, बैठना उनके लिये मौत है तो ऐसा व्यक्ति अभ्यास भी तो नहीं कर सकता। तो कहते हैं कोई बात नहीं, कल्याण का मार्ग अभी भी शेष है। यह सनातन धर्म है। इसमें कल्याण के पथ पर चलने के एक नहीं अनेक मार्ग हैं। एक ही डण्डे से सबको नहीं हाँका गया। अगर यह नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं, तू यह कर निराश होने की बात नहीं। भगवान् ने एक के बाद एक रास्ते बताये। भगवान् कितने कृपालु हैं। पहले श्रेष्ठ अधिकारी की बात कही। श्रेष्ठ अधिकारी की बात कौन-सी है—आठवाँ श्लोक श्रेष्ठ अधिकारी की बात है। फिर उत्तरोत्तर मंद अधिकारी की बात कह रहे हैं। अगर मन और बुद्धि मुझमें न लगे तो क्या करे? मन और बुद्धि को लगाने का अभ्यास कर। मन और बुद्धि का अभ्यास भी नहीं कर सकता तो तीसरा मार्ग बता रहे हैं। भगवान् इतने करुणा-वरुणालय है कि एक के बाद एक विकल्प दे रहे हैं। अभ्यास भी नहीं कर सकता तो मेरे लिये कर्म कर—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि, कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। 12/10

इस श्लोक में दो मुद्दे हैं—1. पीछे के श्लोक में कहे हुए अभ्यास के लिये यदि तू असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म किया करो। मेरे लिये कर्म करने वाले बनो। 2. मेरे लिये कर्म करने वाले तुम सिद्धि यानी मोक्ष प्राप्त कर लोगे।

अगर मन और बुद्धि मुझे नहीं समर्पित कर सकते और न ही इसका अभ्यास ही कर सकते हो। पर तू कर्म तो कर सकता है? हाँ, कर्म तो दिन भर बैल की तरह करता हूँ। तब तो काम हो गया। तू कर्तापन का अहंकार छोड़ दे। जैसे—मुनीम को देखिये वह अपने साहूकार के लिये, सेठ के लिये कार्य करता है। करोड़ों का व्यापार करता है मुनीम, क्या अपने लिये? नहीं। यह तो सेठ का कार्य है, साहूकार का कार्य है, मैं तो मात्र मुनीम हूँ। वह सब काम करता है पर

हर समय सेठ का भान उसके भीतर मौजूद है। अपने को इन समस्त करोड़ों रुपये के व्यापार का कर्ता नहीं मानता। आप सामान्य रूप से देखते हैं दुनिया में मुनीम कितना भी व्यापार करे, करोड़ों का व्यापार करे, पर उसे यह मालूम है कि यह व्यापार मेरे लिये नहीं है। करोड़ों का व्यापार करने पर भी मैं एक रुपये में भी हाथ नहीं लगा सकता क्योंकि यह सेठ का है, साहूकार का है। ठीक यही भाव हम भगवान् के प्रति बना सकें। सब-कुछ प्रभु का है। प्रभु हम तुम्हारे लिये कर रहे हैं। तुम्हारा कार्य तुम्हारी ही मर्जी से, तुम्हारी ही इच्छा-शक्ति से कर रहे हैं। अगर हम प्रभु को वहाँ पर इस प्रकार लाकर रख सके जैसे मुनीम सेठ को अपने भीतर रखता है, वैसे ही हम प्रभु को अपने कर्मों के बीच रख सके, जैसे शिवाजी महाराज समर्थ स्वामी रामदास के आदेश पर उनका प्रतिनिधि बनकर राज्य करते रहे। जैसे भरत राम की चरणपादुका अयोध्या में स्थापित कर राम के प्रतिनिधि बनकर नन्दिग्राम से राज्य कार्य चलाते रहे। जैसे ट्रेन में यात्रा कर रहे हों तो अपने सामान को अपने सिर पर ढोना मूर्खता है। अतः भगवान् को कर्तापन देकर निष्फिक्र होकर कार्य करें। इससे कार्य करने की क्षमता बढ़ जायेगी। कार्य में दिव्यता, ईश्वर की विभूति, ईश्वर की शक्ति उसके साथ जुड़ जायेगी। कार्य कुशलता बढ़ जायेगी।

मैं भगवान् के लिये कर्म कर रहा हूँ तो न अकर्म में प्रवृत्ति होगी और न विकर्म में। अकर्म माने प्रमाद, आलस्य का अवसर नहीं रहेगा और न विकर्म यानी विपरीत कर्म का अवसर रहेगा। जैसे मुनीम सेठ के लिये कार्य करता है तब न प्रमाद के लिये और न विपरीत कर्म के लिये ही स्थान बचता है। जैसे भरतजी जब राम के प्रतिनिधि बनकर राज्य चलाते हैं तब राज्य कोष पहले से दस गुणा वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार भगवान् के लिये कार्य कर रहा हूँ यह भाव रहने से न आलस्य के लिये अवकाश बचता है और न विकर्म का ही अवसर रहता है और अपनी कार्य क्षमता भी पहले से बहुत अधिक बढ़ जाती है।

इस प्रकार मेरे लिये कार्य करने पर भी तुम सिद्धि प्राप्त करोगे। सिद्धि का कुछ लोग अर्थ करते हैं भगवत्प्राप्ति हो जायेगी। पर जो बड़े ज्ञानी लोग हैं वह कहते सिद्धि का अर्थ है चित्त की शुद्धि हो जायेगी। चित्त की शुद्धि होने पर अभ्यास की योग्यता आ जायेगी। और अभ्यास करोगे तो मेरे में चित्त को रमाने की योग्यता आ जायेगी। मुझमें चित्त रम जायेगा तो मेरा तत्त्वज्ञान उस चित्त में टिक जायेगा। तत्त्व विचार और तत्त्वज्ञान की योग्यता आ जायेगी। तत्त्वज्ञान हो जायेगा तो मोक्ष हो जायेगा। अभी क्या मतलब है? गिरते हुए व्यक्ति को जो शाखा पकड़ में आ जाय वही शाखा उसे रोक लेगी। रोने की क्या बात है। अभ्यास करते नहीं बनता है तो मेरे लिये कर्म कर।

अर्जुन ने कहा, महाराज! उसमें भी कसर है। वह भी नहीं हो सकता है। विचित्र बात है। सनातन धर्म है। फिर भी कोई बात नहीं, चिन्ता नहीं। भगवान् चौथा विकल्प देते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। (12/11)

इस श्लोक में चार बातें हैं—1. यदि यह भी तुम करने में असमर्थ हो तो, 2. मेरे योग का आश्रय लेकर, 3. मन आदि सब इन्द्रियों को काबू में रखकर, 4. सब कर्मों के फल का त्याग करो।

बहुत से लोग हैं जो कर्तापन का अहंकार तो नहीं छोड़ पाते पर कर्मफल त्याग कर देते हैं। अपने से बड़ी इकाई के प्रति। जैसे माता-पिता परिवार के लिये, समाज सेवक समाज के लिये, देश के लिये कर्म तो करता है। कर्तापन तो नहीं छोड़ता है पर फल परिवार, समाज या देश के हित में समर्पित कर देता है। जैसे गाँधीजी गीता पढ़ने के पूर्व वे अपनी कमाई से जो बचता था वह अपने बड़े भैया को समर्पित करते थे। बाद में वे समष्टि हित के लिये करने लगे।

तो यहां भगवान् कहते हैं, ठीक है तू मेरे लिये कर्म नहीं कर सकता, कर्तापन का अहंकार नहीं छोड़ सकता, तो कर्म का फल ही मुझे समर्पित कर दो। इसका तात्पर्य क्या है? पुरी के महाराजजी बताते हैं उनके उधर बिहार में आम का बाग बहुत होता है। अब ब्राह्मणों के यहाँ कोई रिश्तेदार, नातेदार, माता-पिता मर गये तो प्रथा क्या है? आम के बाग का एक पेड़ माताजी के नाम पर महापात्रजी को संकल्प करके दे दिया। अब महापात्रजी का घर 10 किलोमीटर दूर है वे आम पाने आते हैं तो उन्हें दे दिया नहीं तो उस घर का कोई व्यक्ति उस आम को नहीं पाता। पर बेटी, उनके बच्चे एवं परिवार वाले उसको पाते हैं। तो वृक्ष आपने लगाया, सब-कुछ तैयार किया लेकिन फल महापात्रजी को दे दिया, दूसरे को दे दिया। वृक्ष लगाने का विनियोग हो गया या नहीं। कर्म आप कीजिये, भगवान् के लिये नहीं करते बनता, कोई बात नहीं, अपने लिये कीजिये कर्म लेकिन फल भगवान् को सौंप दीजिये। यह खेती आप कीजिये। अन्त में मालपूआ जो बने, रोटी जो बने ठाकुरजी के सामने रख दीजिये। ठाकुरजी ने खाया या नहीं? खाया। ठाकुरजी सब खा जाते हैं, इतना भी नहीं छोड़ते फिर अपने अनुग्रह से फिर आपको थाली भरकर दे देते हैं। अतः आपको क्या घाटा लगा। बट्टे खाते में ठाकुरजी का प्रसाद भी मिल गया और मुक्ति का द्वार भी। तो भगवान् ने कहा, कर्म करो मेरे लिये नहीं अपने ही लिये सही। पर फल मुझे समर्पित कर दिया करो और भगवान् उसे ग्रहण कर फिर भक्त पर अनुग्रह कर उसे लौटा देते है तो इसमें घाटा क्या है। और

जो सिर्फ अपने ही, स्वयं ही खाते हैं तो भगवान् ने कह दिया पाप ही खाता है वह व्यक्ति। देव पितर सब पेट भीतर। न देवता के लिये, न पितर के लिये, न अतिथि के लिये, न संन्यासी के लिये, न चींटी के लिये, न कौए के लिये वह व्यक्ति पाप ही खाता है।

खेती आपने की, भगवान् के लिये नहीं। खेती का फल है भोजन। नोटों का बंडल आया अनाज बेचकर, वह भगवान् के आगे रख दिया। भगवान ने स्वीकार करके फिर आपको दे दिया आपका घाटा भी कुछ नहीं लगा और आपका काम भी बन गया। इतना सुगम साधन।

जो अपनी मन-बुद्धि को भगवान् को समर्पित नहीं कर सकता है, वह अभ्यास ही करे। जो अभ्यास भी नहीं कर सकता, वह भगवान् के लिये कर्म ही करे। जो भगवान् के लिये कर्म नहीं कर सकता, संसार के लिये ही कर सकता है तो कोई बात नहीं, संसार के लिये ही करे। कर्मफल को भगवान् को ही समर्पित कर दे।

इस प्रकार भगवान् कहते हैं तुम मेरे पास किसी प्रकार आना तो सीखो। किसी भी प्रकार से तो आओ। मन-बुद्धि को समर्पित करो। वह नहीं कर सकते तो उसका अभ्यास करो, वह भी नहीं कर सकते तो कर्मों को भगवान् के निमित्त करो, वह भी नहीं कर सको। संसार के लिये कर्म करोगे तो संसार के लिये ही करो पर फल भगवान् को समर्पित कर दो। अच्छे-बुरे जो भी कर्म करते हो वह भगवान् को समर्पित कर दो। यानी किसी भी प्रकार से समर्पित करना तो सीखो। बुरे कर्म करते हो तो भी उसके फल भगवान् को समर्पित करो। भगवान् को समर्पित करने से वह बुरे कर्म की प्रकृति अपने-आप धीरे-धीरे दूर हो जायेगी। क्योंकि जब वह बुरे कर्म का फल समर्पित करेगा तो वह सोचेगा कि भगवान् को कैसे फल समर्पण करना चाहिये। भगवान् किस तरह से प्रसन्न होंगे। इस तरह के निरन्तर चिन्तन से उसकी बुरे कर्म से प्रवृत्ति हट जायेगी और वह शुद्ध कर्म करने लगेगा।

तो अब किसी के मन में आ सकता है कर्मफल त्याग चौथे स्तर की साधना है। जब साधना करूँगा तो पहले ही स्तर की क्यों न करूँ। वह अपनी पात्रता का विचार नहीं करता। उसका जो भाव होता है यही तो Short cut है। चलना है तो इसी पर चलूँगा। पर अपनी पात्रता, प्रकृति रुचि पर तो विचार कर। पर नहीं मानता। आत्मानन्दजी स्वयं का ही उदाहरण देते हैं। वैष्णव देवी पहुँचने के दो मार्ग हैं— एक आठ मील लम्बा है, दूसरा 14 मील। पर वे अपने वर्तमान शरीर की अवस्था का विचार न करके छोटे रास्ते, आठ मील वाले रास्ते पर चल पड़े और बहुत ही तकलीफ उठानी पड़ी। 14 मील का रास्ता लम्बा अवश्य पर आरामदायक है।

पात्रता के आधार पर अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल सभी साधनाएँ एक नम्बर की हैं। आत्मानन्दजी स्वयं का ही उदाहरण देते रहे हैं। ध्यान में अटकाव आ गया—गोपेश महाराज एवं स्वामी रंगानाथानन्दजी के परामर्श से एक महात्माजी के पास पहुँचे। उन्होंने एक के बाद एक ध्यान का अभ्यास बताया पर उनकी बाधा 5वें प्रकार के अभ्यास से दूर हुई तो इसका अर्थ प्रथम चार साधनाएं दो नम्बर की हैं या बेकार हैं ऐसी बात तो नहीं। जिसको जो फिट बैठ जाय वही उसके लिये उपयुक्त है। प्रथम श्रेणी की है।

साधारणतः मनुष्य की आस्था दुर्बल होती है दृढ़ नहीं। उसे यदि यह न बताया जाय कि यही साधना श्रेष्ठ है। अन्यथा वह किसी भी साधना को दृढ़तापूर्वक दीर्घकाल तक, निरन्तर चालू नहीं रख पाता। थोड़े से प्रयास से, फल नहीं मिला तो फिर दूसरी साधना में प्रवृत्त हो जाता है, जीवन भर साधनाएँ, देवी-देवता बदलता रहता है। किसी एक को दृढ़तापूर्वक पकड़कर रख नहीं पाता। किसी ने दुर्गा माहात्म्य बताया तो उसका पाठ कर लिया। उससे कुछ फल नहीं मिला। किसी ने और कुछ बता दिया या देवी-देवता का बता दिया तो उसका पाठ करने लगता है। यह जो वृत्ति है वह हमारी दुर्बल आस्था की परिचायक है। बार-बार साधना बदलने वाला, देवी-देवता बदलने वाला उस व्यक्ति के सदृश है जो जल के लिये कुआं खोदता है, वहाँ पानी नहीं निकला दस फुट पर तो दूसरी जगह, फिर वहाँ भी पानी नहीं निकलता है तो तीसरी जगह। इस प्रकार 10-15 जगह खोद डालता है और कहीं पानी प्राप्त नहीं होता। उसके लिये रामकृष्णदेव कहा करते थे कि यदि वह दृढ़तापूर्वक एक ही जगह गहराई तक कुआं खोदता जाता तो निश्चय ही पानी पा लेता। कभी गायत्री का पुनश्चरण, तो कभी दुर्गा का पाठ, तो कभी किसी का। किसी एक में दृढ़ता से लगा नहीं रह पाता फलतः उसका जो फल मिलना चाहिये उससे वंचित रह जाता है।

साधक की ऐसी दुर्दशा न हो, इसलिये भगवान् जिस योग का भी प्रतिपादन करते हैं उसी को श्रेष्ठ बताते हैं। कर्मयोग का प्रतिपादन करेंगे तो उसे श्रेष्ठ, जब भक्तियोग का प्रतिपादन करेंगे तो उसे श्रेष्ठ, जब ज्ञानयोग का प्रतिपादन करेंगे तो उसको श्रेष्ठ बताते हैं। इसलिये हमारे यहाँ जिस देवता को जब पूजा जाता है तब उसको सबसे ऊँचा आसन दिया जाता है। श्रेष्ठ बताया जाता है। जिसके कारण पश्चिम वालों को बहुदेववाद की भ्रान्ति हो जाती है और जिसकी व्याख्या मैक्समूलर हिनोथीज्म कहकर करता है।

यहाँ पर भगवान् ने पहले मन-बुद्धि को अर्पित करने को कहा, उसमें असमर्थ होने पर अभ्यास करने को कहा, उसमें असमर्थ होने पर कर्तापन का त्याग करने को कहा, उसमें भी असमर्थ होने पर कर्मफल त्याग की बात कही। अब कोई यह

न सोचे कि कर्मफल त्याग सबसे निचले स्तर की चतुर्थ स्तर की साधना है। मैं चतुर्थ स्तर की साधना क्यों करूँगा मैं तो पहले स्तर की ही साधना करूँगा। जब साधना करना है तो पहले स्तर की साधना करूँगा। अपनी पात्रता पर विचार करता नहीं फलतः असफल हो जाता है। जबकि सभी साधनाएं अपनी पात्रता के आधार पर पहले स्तर की हैं। इसलिये भगवान् 12वें श्लोक में क्रम को बदल देते हैं और कर्मफल त्याग को ही सर्वश्रेष्ठ साधना बताने लगते हैं।

भगवान् की अद्भुत महिमा देखिये अभी सीधे-सीधे अवरोह क्रम से। सबसे बड़ा बताया मन-बुद्धि का निवेश, उसके बाद अभ्यास, उसके बाद मेरे लिये काम करो, उसके बाद कर्मफल त्याग दो, तो जिसको उन्होंने अवरोह क्रम से बताया, अब उसको आरोह क्रम से बतायेंगे। क्यों बतायेंगे आरोह क्रम से? इसलिये कि वे कहते हैं कि जो साधन बहुत कठिन उसकी ओर प्रशंसा करने पर सब लोग कर नहीं पा रहे हैं। तो बिचारे गिर जायेंगे। तो उनकी सहज साधना में प्रवृत्ति हो इसके लिये वे सहज साधना की प्रशंसा कर रहे हैं। इतना सहज भी नहीं है कर्म फल त्याग। लेकिन अन्य साधनों की तुलना में सहज है।

फिर एक दृष्टि और है। प्रशंसा किसकी करनी चाहिये कलश की, शिखर की या नींव की? सोचने की बात है। भवन जो चमकता हुआ दिखाई पड़ रहा है या जो नीचे गड़ा हुआ है? नींव के ऊपर महल खड़ा है। तो उस साधन में मन और बुद्धि लगेगी। यह तो कलश है। कलश स्थापित कैसे हुआ? कलश जिस नींव पर स्थापित है उसकी प्रशंसा होनी चाहिये। कलश किस नींव पर स्थापित है? कलश इस नींव पर स्थापित है कि जो भी हम कर्म कर रहे हैं उसका फल हम नहीं भोगेंगे। कर्मफल के त्याग की नींव पर भगवान् से हमारा मन और हमारी बुद्धि लगे यह सम्भव है। इसलिये 12वें श्लोक में जिसको अभी तक अवरोह क्रम से बताया उसको आरोह क्रम से बतायेंगे। दो कारणों से एक तो जो मंद अधिकारी हैं उनकी मंद साधना के प्रति श्रद्धा हो। नहीं तो उनकी उस साधन के प्रति श्रद्धा ही नहीं होगी इसलिये उसकी प्रशंसा है। और इसलिये भी प्रशंसा है कि वह वास्तव में नींव है। कलश होगा सबसे ऊपर। लेकिन कलश जिस नींव पर स्थापित है उस नींव की प्रशंसा होनी चाहिये।

एक बात और है उसे भी ध्यान में रखें—ऊपर से नीचे, ब्राह्मण से क्षत्रिय को ऊँचा करने का क्या रहस्य है? सबसे ऊँचे साधन को सबसे नीचे गिरा देने की क्या युक्ति है? जिस ऊँचे को नीचा सिद्ध करना है, उसमें कुछ खोट डाल दीजिये, न्यूनता दिखा दीजिये। कोई कहे ब्राह्मण श्रेष्ठ है या क्षत्रिय। अब मुसीबत आ गई उत्तर देने वालों के लिये। तो वह उत्तर देने का ढंग क्या होगा? अरे, जो ब्राह्मण संध्या वंदन नहीं करता है, शराब पीता है, केवल ब्राह्मण कुल में जन्म

हो गया है इसकी अपेक्षा जो त्रिकाल संध्यावंदन करता है, प्रजा की रक्षा करने वाला है, देश के लिये सीने पर गोली सहने वाला क्षत्रिय है वह उत्कृष्ट है। यहाँ चतुराई का परिचय दे दिया या नहीं। जो स्वभाव से श्रेष्ठ है उसमें एक न्यूनता का आधान कर दीजिये। ये शास्त्र को कहने का ढंग है। इसी प्रकार कर्म संन्यास और कर्मयोग में कौन उत्कृष्ट है? कर्म संन्यास तो तात्त्विक है तो उसकी अपेक्षा कर्मयोग तो उत्कृष्ट हो ही नहीं सकता। कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ नहीं हो सकता है। कर्मसंन्यास के लिये कर्मयोग उपाय है और कर्मयोग का उपेय है, साध्य है कर्मसंन्यास। ऐसी स्थिति में फिर कहना होगा अपक्व योग की भूमिका में जो संन्यास ले लिया गया उस संन्यास की अपेक्षा विधिवत जो कर्मयोग का पालन किया जा रहा है वह कर्मयोग उत्कृष्ट है। ऐसे ही जो ब्राह्मण अपने कर्तव्य के प्रति सजग नहीं है, प्रमत्त है उससे वह क्षत्रिय श्रेष्ठ है जो अपने कर्तव्य के प्रति अप्रमत्त है, दक्ष है।

इन सब दृष्टियों से 12वें श्लोक में भगवान् ने अपना क्रम बदल दिया— अवरोह क्रम से नहीं बताकर आरोह क्रम से बता रहे हैं—

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीता को अपना हृदय मानते हैं। गीता का हृदय है द्वादश अध्याय (भक्ति योग)। द्वादश अध्याय का भी हृदय इस अध्याय का यह बारहवाँ श्लोक माना जाता है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। 12/12

इस श्लोक में चार बातें है। भगवान् कह रहे हैं अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है। और कर्मफल त्याग करते ही तुरन्त बिना किसी व्यवधान के बिना किसी फासले के, किसी एक क्षण की देरी के बिना तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है। इसलिये कर्मफल त्याग सबसे बड़ा है। देखिये, वहाँ कर्मफल त्याग को चौथा साधन बताया था और यहाँ कर्मफल त्याग को सबसे बड़ा बताया। अब इसको समझना चाहिये क्या बता रहे हैं 'श्रेयो ही ज्ञानमभ्यासात्' यहाँ ज्ञान का अर्थ ब्रह्मज्ञान नहीं। ज्ञान का अर्थ होता है अभ्यास जड़ की तरह मत करो। हम जिसका अभ्यास कर रहे है उसके पीछे के तत्त्व की, सैद्धान्तिक ज्ञान की सम्यक् जानकारी होनी चाहिये। उसके अर्थ की जानकारी होनी चाहिये जिसका अभ्यास कर रहे हैं। रट्टू तोते की तरह या बिना सम्यक् जानकारी के अभ्यास नहीं करना चाहिये। हम जीवन भर माला फेरते हैं पर जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता। वही राग-द्वेष, वही खट-पट। अभ्यास के साथ चिन्तन भी आवश्यक है और उसके अनुसार जीवन को ढालें। बिना चिंतन के आप जीवन-

भर माला फेरते हैं पर न आपमें कोई अपेक्षित परिवर्तन होता है और न कोई फल मिलता है। ऐसा क्यों होता है? हम प्रार्थना तो कर रहे हैं, भगवन्! मुझे दिल्ली सकुशल पहुँचा दो और बैठ जाते हैं बम्बई जाने वाली ट्रेन में तब दिल्ली कैसे पहुँचेंगे? आप माला तो फेर रहे हैं एक तरफ और जीवन जा रहा दूसरी तरफ। इसलिये माला के साथ-साथ चिन्तन आवश्यक है और उसके अनुसार जीवन को ढालने की आवश्यकता है। अन्यथा कोई 30 वर्ष से माला फेर रहे हैं, कोई 40 वर्ष से पर कोई परिवर्तन नहीं। जीवन की जितनी भी खटर-पटर, दुष्कर्म है सबमें लिप्त हैं। इसलिये बहुत से लोग कहते हैं यह तो बहुत माला जपता है, सत्संग करता साधु संग करता है पर कर्म मेरे से भी निकृष्ट करता है, मैं तो कुछ भी पूजा-पाठ नहीं करता। पर मेरा जीवन उसकी अपेक्षा शुद्ध है। कोई केवल सत्संग प्रेमी सज्जन या ज्ञाता बनकर रह जाते हैं तो कोई भजन प्रेमी बनकर रह जाते हैं पर जीवन में उसका कोई प्रभाव नहीं। आज बहुत-सी ऐसी भजन मण्डलियां बन गई और उसमें लाखों रुपया भी फूँक देते हैं, उनमें परस्पर में प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा भी बहुत है। पर जीवन में भजन का प्रभाव नहीं दिखता।

अभ्यास तो करते हैं पर उसके पीछे तत्त्व को भूल जाते हैं और तत्त्व को भुला देने पर केवल बाह्याडम्बर ही शेष रहता है और उस बाह्याडम्बर के कारण समाज पर कितना अत्याचार एवं शोषण होता है देख लेवें सरस्वती पूजा, दुर्गा पूजा आदि में। दुर्गा पूजा के वास्तविक तत्त्व को भुला दिया, दुनिया शक्ति के सामने झुकती है, केवल आदर्शों के आगे नहीं, और वह शक्ति भी संगठित होगी किसी एक के नेतृत्व में तभी दुष्टों का दमन हो सकता। इस तत्त्व से कोसों दूर और बाह्य पूजा के नाम पर समाज पर कितना भार अनावश्यक थोप देते हैं। वैसे ही सरस्वती पूजा ज्ञानार्जन द्वारा हो सकती है पर उससे कोसों दूर। शिव पिण्डी पर जल क्यों चढ़ाते हैं, इस तत्त्व पर कभी विचार ही नहीं करते। अरे ज्ञान प्रधान ग्रन्थ गीता को सुन्दरकाण्ड को भी केवल पूजा आरती एवं गाने-बजाने संगीत की वस्तु बना दी। सुन्दरकाण्ड के पाठ में हनुमानजी सीता की खोज में भटक रहे हैं। रावण सीता को धमकी दे रहा है, राक्षसियां सता रही हैं, ऐसे बहुत से प्रसंग हैं जहां हम आक्रोशित होने के बजाय झूम रहे हैं, संगीत के प्रभाव से। पाठ हिन्दी में न होकर तमिल में होगा तब भी संगीत की लय के कारण झूमेंगे। रामायण का अखण्ड पाठ कर हम वही कोरे के कोरे रह जाते हैं। पाठ हममें कोई ऊर्जा, प्रेरणा पैदा नहीं करता, क्योंकि तत्त्व पर विचार करते ही नहीं। पुण्य होगा इस भाव से पाठ कर लेते हैं।

भजन आदि प्राथमिक स्तर है। सदैव उसी कक्षा में पड़े रहना उचित नहीं है। भजन के साथ-साथ उसका चिन्तन, जिसका भजन कर रहे हैं वह तत्त्व क्या है?

इसका भी चिन्तन अपेक्षित है। तभी गाना-बजाना सार्थक होगा जब वह उसके पीछे के तत्त्व को, चिन्तन को अपने हृदय में बैठा लेगा। पर चिन्तन तो हो ही नहीं, केवल गाना बजाना हो तो किस तत्त्व को हृदय में बैठायेंगे? बस थोड़ी देर मन्त्र मुग्ध होकर सुनेंगे फिर जैसे के तैसे क्योंकि विचार की तो कोई खुराक हमारे अन्दर गयी ही नहीं जो हमारे जीवन को, चिन्तन को, आचरण को प्रभावित करे। हाथ में हर समय माला फेरना अभ्यास का, भक्ति का परिचायक नहीं है। अन्दर से भक्ति प्रकट हो। प्रेम व करुणा प्रकट होनी चाहिए। हम हाथ से तो माला फेर रहे हैं और ऑफिस में जाकर हेर-फेर कर रहे हैं. भ्रष्टाचार कर रहे, कालाधन बना रहे हैं। जब अन्दर से भक्ति प्रकट होगी तब ऐसा नहीं कर सकते। तब अन्दर-बाहर एक हो जाता है।

अतः अभ्यास के पीछे जो तत्त्व है उसका भी ज्ञान होना चाहिये। इसलिये भगवान् कहते हैं अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। शुष्क अभ्यास से ज्ञान युक्त अभ्यास श्रेष्ठ है। पुरी के महाराजजी इसको एक ओर दृष्टि से विचारते हैं। अभ्यास में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। पहले ठीक-ठीक जानकारी होनी चाहिये। देखा-देखी साधे योग, छीजे काया बाढ़े रोग। सीधे आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर जल बनाने गये और आपकी कहीं जल समाधि न हो जाय। इसलिये Theory का ज्ञान ठीक नहीं है और प्रयोगशाला में उतर आते हैं। यह खतरनाक काम मत कीजिये। भगवान् ने कहा, विधिवत जब तक Theory का ज्ञान पूरा न हो जाय, Theory के ज्ञान के पूर्व ही अभ्यास शुरू कर दिया उस अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान, ठीक-ठीक वस्तुस्थिति को समझना, शास्त्रीय ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान, परमार्थ पथ का ज्ञान Theory का ज्ञान ऊँचा है। पहले से ही मन-बुद्धि में कूड़ा-कचरा न भर लेवें, पहले ही गलत-सही पढ़कर, जानकर अपने मस्तिष्क को उसके अनुसार ढालकर विकृत करके गुरु के पास पहुँचते हैं तो गुरु को अब उसे ठीक करना बड़ा कठिन होता है। कोई गलत स्वर सीखकर संगीतज्ञ के पास पहुँचता है तो उसको ठीक करवाने के लिये तो उसको बड़ी कठिनाई होती है। स्वयं स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन मैंने पहले किया उसके कारण जो दिमाग की नसें दूसरी धारा में ढल गई अब भारतीय दर्शन समझ में ही नहीं आये। इसलिये कोरा कागज अच्छा है। या कोरी मिट्टी अच्छी है उससे बढ़िया घट बना सकते हैं। उसको टेढ़ा-मेढ़ा बनाकर उसे, पका कर अब कहते हैं सीधा करो तो अब सीधा कैसे करें उस घट को। इसलिये भगवान् ने कहा, अभ्यास में जल्दी मत करो। पहले जानकारी ठीक-ठीक पूर्ण रूप से प्राप्त करो। इसलिये अभ्यास में उतावलापन मत करो। इसलिये अभ्यास के पहले सम्यक् जानकारी का महत्त्व है।

'ज्ञानात ध्यानं विशिष्यते'

अब अभ्यास भी है, उसके पीछे के तत्त्व का ज्ञान भी है पर ध्यान नहीं है, यानी उसमें मन रमता नहीं। अभ्यास एवं उसके पीछे के तत्त्वज्ञान का परिणाम क्या होना चाहिये उसमें मन पैठना चाहिये। केवल शाब्दिक एवं वाचिक ज्ञान होने से काम नहीं चलेगा उसमें मन एकाग्र होना चाहिये, मन रमना चाहिये। इसलिये भगवान् कहते हैं ज्ञान से भी बढ़कर ध्यान है। ध्यान कहते हैं अविच्छिन्न चिन्तन परम्परा को। अविच्छिन्न चिन्तन परम्परा जो आप सोच रहे हैं उसकी परम्परा चली आये और उसमें कोई विच्छेद न आये तो वह केवल सूखी जानकारी नहीं है। उस सूखी जानकारी से अपने इष्टदेव का रूप क्या है? लीला क्या है, चरित्र क्या है, यह जान लिया और उसकी तरफ मन लगा रहे हैं लेकिन उसमें मन लगाते हुए ध्यान लग जाय, उसमें अविच्छिन्नता एकतारता आ जाये वह केवल ज्ञान से, वह केवल जानकारी से बड़ी चीज है।

अब अभ्यास है, ज्ञान है एवं ध्यान का परिणाम कर्मफल त्याग होना चाहिये। ये तीनों हों और कर्मफल त्याग न हो तो भी काम नहीं चलेगा। इसलिये भगवान् कहते हैं ध्यान से भी बढ़कर कर्मफल त्याग है। सम्यक् रूप से ज्ञान के बाद अभ्यास, Theory की जानकारी तो बहुत कम समय में हो जाती है, पर उसका अभ्यास दीर्घकाल तक करना पड़ता है, जैसे साइकिल चलाना, मोटर चलाना, स्कूटर चलाना। मोटर को कैसे Start करें इसकी जानकारी तो बहुत थोड़े समय (10-15 मिनट) में हो जाती है पर उसका अभ्यास महीनों करना पड़ता है। अतः अभ्यास की परिपक्वता से ध्यान है, अतः ज्ञान की अपेक्षा ध्यान का अधिक महत्त्व है। अब ध्यान तो किया लेकिन फल का अनुसंधान बना हुआ। ध्यान के फलस्वरूप प्रधानमंत्री बनना है। तो भगवान् ने कहा, गुड़ गोबर हो गया? योगाभ्यास तो किया लेकिन फल का, कामना का कीड़ा उसमें डाल दिया। पहले ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त की, फिर अभ्यास किया, अभ्यास की परिपक्वता ने ध्यान का रूप धारण किया लेकिन ध्यान के गर्भ में कामना का कीड़ा डाल दिया तो उसी कामना की पूर्ति में ध्यान का फल निकल आवेगा। फल का अनुसंधान करके ध्यान किया, वह ध्यान ध्रुवजी को राज्य देगा, मोक्ष नहीं देगा। इसलिये ध्रुवजी रो पड़े। इतना दुर्लभ ध्रुव पद दे दिया भगवान् ने। 32 हजार वर्ष का राज्य दे दिया बिना शरीर त्यागे। मृत्यु के सर पर पाँव रखकर ध्रुवजी ध्रुव लोक भी चले गये। लेकिन भगवान् के अन्तर्हित होने पर रो पड़े ध्रुवजी। हाय! भगवान् से मैंने क्या माँगा। माँगा तो क्या माँगा? मोक्षदाता भगवान् से तो मोक्ष माँगना चाहिये। तो क्या मतलब उस ध्यान से जिसमें जगत के प्रति कामना है।

कितनी भी चिड़िया ऊँची उड़े आकाश
चारा है धरती के पास।

हम लोग उड़ान तो बहुत भरते हैं आकाश में। हवाई जहाज से उड़ते हैं, बहुत ऊँची उड़ान भी भरते हैं पर अन्त में धरती पर उतरते हैं कि नहीं? कोलकाता से मुंबई के लिये चले तो कोलकाता से उड़े और मुंबई की धरती पर गिरे। वैसे ही ध्यान योग की ऊँचाई पर तो पहुँचे, इतना ऊँचा ध्यान किया पर फल चाहा Prime minister का पद। चलो ठीक है। लेकिन भगवान् कहते हैं कर्मफल का जो त्याग है वह ध्यान से भी बड़ा है। ध्यान का बड़ा महत्त्व है। पर यहाँ ध्यान को छोटा सिद्ध करना है? क्योंकि कर्माधिकारी के प्रति उपदेश कर रहे हैं उसमें एक खोट भगवान् ने डाल दिया। कदाचित् कामना संजोकर कोई ध्यान करता है उसकी अपेक्षा, कर्मफल त्याग बहुत ऊँचा है। कर्मफल त्याग की भावना है, मन में फलानुसंधान किये बिना कर्म करता है, अर्जुन! बस-बस उसका तत्काल कल्याण हो जाता है। कर्मफल त्याग जीवन में प्रतिष्ठित होते ही शान्ति आ जाती है।

एक बात पर यहाँ ध्यान देवें जीवन में अशान्ति विक्षेप क्यों आते हैं? हम जब काम कर रहे होते हैं तो मन में चिन्ता बनी रहती है इसका फल मिलेगा या नहीं, नहीं मिलेगा तो हमारा क्या होगा? नौकरी कर रहे हैं, उसमें अगर हमें वेतन नहीं मिलेगा तब क्या होगा? व्यापार कर रहे हैं उसमें लाभ नहीं होगा तो क्या होगा? तो जो फल है उसकी ओर हमारा मन लगा रहता है। फल की ओर मन लगा रहने से विक्षेप आता है। बार-बार विक्षेप आयेगा तो कर्म में पूरा मन लगेगा ही नहीं, बुद्धि लगेगी ही नहीं। विक्षेप का मूल कारण है फल प्राप्ति की लालसा। फल प्राप्ति की जितनी बड़ी लालसा होगी उतना अधिक विक्षेप होगा। फल प्राप्ति की लालसा का जहाँ परित्याग होगा तुरन्त शान्ति की प्राप्ति होगी। फल-प्राप्ति की लालसा ही विक्षेप का मूल कारण है। यह फल मुझको ही मिलना चाहिये। यह फल ज्यादा-से-ज्यादा मिलना चाहिये, तुरन्त मिलना चाहिये। अरे, तो कर्म की जो कुशलता है वह नष्ट हो जाती है। तुम्हारा ध्यान कर्म में नहीं लगता, फल में लगता है। कर्मफल त्याग करने से एकाग्रता बढ़ेगी या घटेगी? बहुत से लोग समझते हैं कर्मफल त्याग करने से कर्म की ओर एकाग्रता ही नहीं होगी। नहीं, नहीं। हमारा जो मन फल की ओर लगा हुआ था, जितना ध्यान फल की ओर जाता था उतना ही ध्यान कर्म की ओर भी जायेगा। इसलिये कर्म और अच्छा होगा। पर सकाम भाव से कर्म करने की तुलना में निष्काम भाव से कर्म करने में कुशलता ज्यादा है। जब भगवान् कहते हैं, 'योगः कर्मसु कौशलम्' योग कर्म में कुशलता का नाम है। किस कुशलता का नाम है। चोरी बहुत योग्यता से करने का नाम योग हो जायेगा? बेईमानी बहुत कुशलता से करने का नाम योग हो जायेगा, नहीं। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का मतलब है वह कौशल जिससे कि कर्मफल हमको बाँध न पाये। कर्म करने की वह विधि, वह कुशलता जिससे कि हम कर्म के बंधन से मुक्त रहें उसका नाम योग है। 'योगः

कर्मसु कौशलम्' का मतलब यह नहीं है कि जो काम आप करते हैं बड़ी चतुराई से करते हैं। बहुत चतुराई से झूठ बोलिये जिससे कोई आपको न पकड़ पाये। यह योग है। यह अर्थ नहीं है। योगः कर्मसु कौशलम् का अर्थ है कि आप कर्म इस कुशलता के साथ कीजिये कि कर्म जो बाँधता है उसकी जो बाँधने की शक्ति है वह व्यर्थ हो जाय। कर्म आपको बाँध न पाये। इस कुशलता से जो कर्म किया जाता है उसका नाम योग है। तो कर्मफल की ओर हमारी जब तक प्रवृत्ति रहेगी तब तक कर्म की ओर पूरी दृष्टि नहीं जायेगी। कर्म में पूरी तत्परता व पूरी उत्कृष्टता नहीं आयेगी। कर्मफल की तरफ से मन को हटा देने से कर्म की क्षमता बढ़ती है और तत्काल शान्ति प्राप्त होती है। सारा विक्षेप कर्मफल की ओर से आता है। कर्मफल नहीं मिलेगा तो क्या होगा? इसके कारण होता है। उस फल का त्याग करते ही तत्काल शान्ति प्राप्त होगी।

अब भगवान् भक्त के लक्षण बता रहे हैं। भगवान् जो लक्षण बता रहे हैं वह भक्त के, वह ज्ञानी भक्त, सिद्ध भक्त के लक्षण हैं। सातवें अध्याय में भगवान् ने चार प्रकार के भक्त बताये—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। भगवान् ने 13वें श्लोक से 19वें श्लोक तक जो लक्षण बताये हैं वह आर्त भक्त के लक्षण नहीं हो सकते हैं। आर्त तो किसी के द्वारा पीड़ित है, दुःखी है। कोई-न-कोई उसका द्वेषी है उससे मुक्ति पाने के लिये भगवान् की शरण में आया है। अतः वह अद्वेष्टा नहीं हो सकता है। ये लक्षण अर्थार्थी भक्त के भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इसमें कहा है 'संतुष्ट सततं योगी' 12/14। अर्थार्थी तो अर्थ पाना चाहता है। वह अपनी वर्तमान स्थिति में असन्तुष्ट है, वह और अधिक और अधिक अर्थ पाना चाहता है। अतः वह सन्तुष्ट सतत योगी नहीं हो सकता है। ये लक्षण जिज्ञासु भक्त के भी नहीं हो सकते। क्योंकि जो जिज्ञासु होता है वह तो संसार से उद्विग्न हो गया है, संसार से उद्विग्न होने के बाद वह मुक्ति की राह खोज रहा है। इसमें तो कहा गया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। 12/15

तो स्वभावतः जिज्ञासु भक्त के लक्षण नहीं हो सकते हैं। तो इस प्रकार आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु पर ये लक्षण नहीं घट सकते तो किसके ऊपर घटेंगे? ज्ञानी के ऊपर घटेंगे। इसका अर्थ हुआ यह मूलतः ज्ञानी भक्त के, सिद्ध भक्त के लक्षण हैं। और ज्ञानी भक्त को भगवान् ने अपनी आत्मा ही कहा है, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' 7/18 ज्ञानी भक्त, सिद्ध भक्त या सिद्ध सन्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं होता। तुलसीदासजी ने कहा है—

भक्त और भगवंत अन्तर निरन्तर नहीं।
किमपि कह मति मलिन दास तुलसी।।

सिद्ध भक्त, संत और भगवान् में जरा-सा भी अन्तर नहीं है यह बात तुलसीदास दृढ़तापूर्वक कह रहे हैं। अतः यह सिद्ध भक्त के साथ-साथ भगवान् के भी लक्षण हैं।

अब एक बात पर और ध्यान देवें। द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ या गीता के आदर्श पुरुष के लक्षण दिये गये। त्रयोदश अध्याय में त्रिगुणातीत ज्ञानी के लक्षण दिये गये हैं एवं षोड्श अध्याय में दैवी सम्पद् के लक्षण दिये गये हैं। ये सभी लक्षण बहुत मिलते-जुलते हैं। इसका मतलब है अपनी पराकाष्ठा में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग बहुत कुछ एक जैसे हो जाते हैं। रास्ते अलग-अलग हैं पर गन्तव्य एक है।

इस प्रकार यह सिद्ध भक्त के, ज्ञानी के, दैवी पुरुष या स्वयं भगवान् के ही लक्षण हैं। इसलिये इन लक्षणों को देखने से लगेगा भाई यह तो ऐसे लक्षण हैं जो हमारी पहुँच से परे हैं। यहाँ इस सन्दर्भ में रामकृष्णदेवजी के कथन पर ध्यान देवें। श्रीरामकृष्णजी का जीवन ऐसा भव्य एवं शीर्ष पर स्थित था कि उनको देखते हैं तो उनकी ऊँचाई देखकर सिर चकराता है। और कई भक्तों ने तो कह ही दिया, महाराज! आपका जीवन इतना ऊँचा है, जीवन रूपी इमारत इतनी ऊँची है। हम सब देखते हैं तो सिर चकराने लगता है। हम आपसे क्या सीख सकते हैं। आपने विवाह किया। पत्नी को साथ रखा। फिर भी दोनों के दोनों आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। कहीं पर विघ्न पैदा नहीं हुआ और आपकी साधनाएँ व आपकी सिद्धियों इनको देखकर हम क्या सीख सकते हैं। ऐसा लगता है आप हमारी पहुँच से बहुत परे हैं। श्रीरामकृष्णदेवजी ने जो उत्तर दिया वह यहाँ भी लागू होता है।

उन्होंने कहा, यह तो ठीक है। यह जीवन आदर्श स्थानीय रहा। यह तुम लोगों के लिये एक सांचा बना दिया गया है। यह एक सांचा है। अपनी ओर दिखाते हुए कहते हैं यह एक सांचा है। इसने एक सांचा बना दिया है। यह आदर्श स्थानीय है। अब इस सांचे में तुम लोग अपनी शक्ति के अनुसार अपने को ढाल लो। जितना बन सके ढाल लो। क्योंकि मैं जानता हूँ जब में सोलह आना करूँगा तो तुम लोग एक-आध आना करोगे तो करोगे। मैं जब 16 नाच नाचूंगा तो तुम लोग एक-आध नाच नाचोगे। यह रामकृष्ण का उत्तर है। तो ठीक गीता में जो भक्त के लक्षण बताये हैं हम कहेंगे यह आदर्श स्थानीय है। हम कहेंगे यह आदर्श हमारा रहे। उसको हम नीचे नहीं लायेंगे क्योंकि हम कमजोर हैं, दुर्बल हैं। उस आदर्श को नहीं पा सकते। इसका मतलब क्या यह हुआ कि हम आदर्श को खींचकर नीचे ले आयें, नहीं। आदर्श आदर्श की जगह पर रहेगा और हम जितना बन सकेगा इस आदर्श के आलोक में अपने जीवन को गढ़ेंगे। इसका यह तात्पर्य है।

वस्तुतः, यह सिद्ध भक्त के लक्षण हैं, महापुरुष के लक्षण हैं। ये ही हमारी साधना बनते हैं। सिद्ध भक्त के जीवन में जो लक्षण प्रकट होते हैं उन्हीं लक्षणों को लेकर हम साधना में प्रवृत्त हो सकते हैं उनको पाने के लिये। हमारे लिये साधना है उनके लिये सिद्धि है। जो गुण अपने-आप में प्रकट हो गये उनको हम पाने की चेष्टा नहीं करते हैं। साधना में मन उन गुणों में पैठता नहीं है। हम चेष्टा करते हैं, बारम्बार अभ्यास करते हैं, मन ठहरता है नहीं, इन गुणों के परे हम पुनः-पुनः अभ्यास करते हैं। यह साधना का जीवन है। सिद्धि का मतलब क्या है अब वहाँ जाकर मन ठहर गया। अब हमें चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अब मन बिना चेष्टा के मन वहीं पर उसी गुण में नियत है, कायम है तो उसको हम सिद्धि कहते हैं। तो यहाँ भक्त के लक्षण दिखाये गये हैं वह सिद्ध के लक्षण है। साधक के लिये साधना का निर्देश है। इस सन्दर्भ में स्वामी आत्मानन्दजी ने बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। एक 14-15 साल की लड़की अचानक मेरे घर आयी। मेरी माँ ने कहा, देख बेटा, तू इसको अपनी बहिन मानना। अब वह लड़की अनाथ थी। कहीं से न मालूम कैसे आ गई। माँ से किसी सहेली ने कहा होगा देखो रख लो। घर का काम-काज भी करेगी, बाद में हम सब मिलकर इसके हाथ पीले कर देंगे। घर में काम कर रही है 15 साल की जवान लड़की। माँ ने कहा, देख तू इसे अपनी बहिन मानना। मैं बहन मानकर चल रहा हूँ। धीरे-धीरे माँ ने समय पाकर उस लड़की से पूछा, तुम्हारे माता-पिता कहाँ रहते थे? कैसे तुम्हारे माता-पिता मर गये। तू अनाथ हो गई। तब उसने बताया, जब में ढाई साल की थी एक मेले में हम सब गये थे। वहाँ पर मैं अपने माता-पिता से अलग हो गई। तब से मैं कितने स्थानों पर घूमी हूँ। माँ अचानक चौंक जाती है। अच्छा दिखा तो सही तेरी पीठ को देखूँ। पीठ देखती है। देखती हैं कुछ निशान है जन्म के। कुछ निशान होते हैं जन्म के। और अचानक उस लड़की को आलिंगन में बाँध लेती है। घर में आनन्द मनाया जाता है। तो क्या? उसे अब बहिन मानूंगा। वह तो बहिन है ही। अभी तक बहिन मानने की साधना चली थी। मैं उसे बहिन मानता था। अब मैं उसे बहिन मानने की साधना करूँगा? अब यह तो सहज सिद्ध है। अब बहिन है यह भाव नस-नस में विद्यमान है। यही बात इन लक्षणों के साथ लागू है। पहले उन गुणों की जीवन में साधना करते हैं। साधना के सिद्ध होने पर ये गुण स्वाभाविक हो जाते हैं।

तो ये गुण मानो हमारी सिद्धि की कसौटी हैं। जिसके पास जिस परिमाण में ये गुण होंगे उस परिमाण में वह व्यक्ति सिद्ध या श्रेष्ठ माना जाता है। शुकदेव से लेकर रमण महर्षि पर्यन्त का जीवन इन गुणों से परिपूर्ण है। इन गुणों की सीढ़ियाँ चढ़े बिना श्रेष्ठता के सिंहासन पर कोई भी आरूढ़ न हो सकेगा यह सार्वदेशिक और सार्वकालिक सिद्धान्त है। 'नर करनी करे तो नर का नारायण हो जाय', भारतीय

विचारकों का समग्र संसार के लिये यह आश्वासन और मार्गदर्शन है। क्योंकि प्रत्येक नर के अन्तर में ही नारायण समाये हुए हैं। बस उसे साधना के द्वारा जगाना है।

कहाँ नारायण बनने की बात कर रहे हैं? पहले लोगों को नर तो बनने दीजिये। क्या आप वर्डसवर्थ की सुप्रसिद्ध कविता What man had made of man! (नर ने नर का क्या बना दिया।) नहीं जानते? क्या आज यत्र-तत्र उसका अनुभव नहीं आता? जिन्हें नर बनना चाहिये वे आज वानर बने हैं, खर और शूकर बने हैं। अथवा ऐसा कहना मानो उन प्राणियों का भी अपमान करना होगा, ऐसी स्थिति आज सर्वत्र चल रही है। यह स्थिति हीन अभिरुचि और अधोगामी प्रवृत्ति के कारण निर्माण हुई है। 'जो-जो बुरा हो वही मैं करूँगा, सर्वत्र गन्दगी ही फैलाऊँगा' यही सौगन्ध मानो खाये हुए हजारों लाखों लोग क्या हमें दिखाई नहीं देते। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, जरासंध, चंगेजखान, तैमूरलंग आदि की क्रूरता की कथाएँ फीकी पड़ जाये, ऐसे भयानक कृत्य आजकल राष्ट्रीय स्तर पर सुहावने नामों से होते हुए क्या हमें नहीं दिखाई देते? नित्य प्रातः समाचार पत्र खोलते ही हत्या, मारपीट, चोरी, बलात्कार, दुराचार के ही अधिकांश समाचार क्या हमारे पढ़ने में नहीं आते।

कतिपय लोग कहते हैं कि आज की परिवर्तित परिस्थिति में इन गुणों का कोई अर्थ रहा नहीं। एक तो संसार परिवर्तनशील होने से गुण भी, जीवनमूल्य बदलने चाहिये। फिर आज विज्ञान के कारण पुरानी मान्यताओं के भवन ढहते जा रहे हैं और प्रगट संसार में नित नयी कल्पनाएँ स्वीकृत हो रही हैं।

और देखिये प्रत्यक्ष व्यवहार में क्या हो रहा है? आज सज्जन को कोई पूछता नहीं, दुर्जन की सर्वत्र वाहवाही होती है। मदिरा और जुआ आज राजमान्य और लोकमान्य बन गये हैं। शाला में शिशु की भर्ती से लेकर बाजार के बड़े-बड़े क्रिया-कलापों तक सर्वत्र झूठ और धोखा चल रहा है। येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना सबका ध्येय बना है। 'द्रव्येण सर्वेवशा' आज का युग मंत्र है। 'दाम करे काम, बीबी करे सलाम' इस कहावत का अनुभव यत्र-तत्र आता है। भगवान् का दर्शन भी करना हो तो गाँठ में पैसा चाहिये। जिसके पास धन हो वही कुलीन, वही विद्वान्, वही ज्ञानी, वही गुणवान, वही वक्ता और वही दर्शनीय कहा जाता है। सारांश, आपके सभी गुण (जीवन-मूल्य) धन के आश्रय से रहते हैं। इसी आशय का एक संस्कृत-श्लोक प्रसिद्ध है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।।
स एव वक्ता स य दर्शनीयः।
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते।।

प्राचीनकाल में कदाचित् उद्वेग और उपहास से कवि ने इसे लिखा हो, पर आज वाच्यार्थ से यह सत्य है।

उपरनिर्दिष्ट उद्गार हम अनेक के मुख से सुनते हैं। कभी न कभी सबके मन में ऐसे विचार आते हैं, किन्तु शान्त चित्त से विचार करने पर ध्यान में आता है कि ये सब मन की गहराई से नहीं, अपितु ऊपरी विचार हैं और वे भी निराशाजनित हैं। वास्तविक गुणों (जीवन-मूल्यों) पर हमारी श्रद्धा के कारण ही हम ऐसा बोलते हैं। जीवन-मूल्यों की अवहेलना और अवमूल्यन असहनीय होने से हृदय में होने वाली वेदनाएँ इन शब्दों में अभिव्यक्त होती है। अपने बच्चे के नटखटपन से त्रस्त माता उसे कहती है—'रुक जा अभी तुझे भेड़िये के सामने डाल देती हूँ। संयोग से बाहर एक भेड़िया बैठा है, वह सोचता है अभी मुझे खाद्य मिलने वाला है। पर वैसा कभी होता नहीं, भेड़िये को भूखा रह जाना पड़ता है। मनुष्य कितना ही झल्लाकर बोले, वह अपनी सुजनता को भेड़िये के मुख में नहीं देगा।

एक व्यापारी था। उसने धोखाधड़ी कर अमित धन कमाया। एक दिन उसका पुत्र पाठशाला के लिये घर से निकला और अपने आवारा मित्रों के साथ घूमता रहा, चित्रपट देखता रहा। पिता को पता लगा। उनके पूछने पर पुत्र ने झूठी कहानी रच कर बता दी। पिता ने क्रोध में पुत्र को बेंत से पीटा। उसी समय आये हुए एक पड़ोसी सज्जन ने पिता को शान्त कर पुत्र को छुड़ाया और माता को सौंप दिया। दोनों मित्र घर से निकलकर एक उद्यान में जा बैठे। व्यापारी का गला रुंध गया। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। बोला—मैंने जीवनभर झूठे काम किये, और दुष्चक्र में फँसता गया। कम-से-कम मेरा लड़का सचाई से चले, ऐसी मेरी इच्छा है। मेरी सारी सम्पत्ति बेईमानी पर आधारित है। कभी-कभी लगता है सबको आग लगा दूँ।

किसी-न-किसी कारण से राख उड़ती है और इस प्रकार अन्दर का स्फुल्लिंग प्रकट होता है। चोरों को भी आपस में सचाई रखनी ही पड़ती है। अधर्मी और नास्तिक मनुष्य भी किसी-न-किसी नाम से धर्म अर्थात् नियम का आश्रय लेता ही है। किसी-न-किसी महापुरुष को और उसके ग्रन्थ के वचनों को वह वादातीत मानता है। फिर यह बात ऐसे लोगों के लिये नहीं कही गई जो वास्तव में आत्म कल्याण के पथ पर, साधना के पथ पर चलना चाहते हैं। उनके लिये भारतीय चिन्तकों का इस विषय में दृढ़तापूर्वक यह कहना है कि 'निश्चित ही मानव देवता बन सकता है।' एक दीप जले, उससे अगणित होवें इसी क्रम से समस्त संसार में दैवी-जीवन निर्माण हो सकेगा। उसके लिये नारायण की लगन लगनी चाहिये। नाच्चार्थो विफलोऽपि दूषणपदं, दुष्यस्तु कामो लघुः—Not failure but low air is crime असफलता नहीं, अपितु हीन ध्येय का होना अपराध है। ध्येय उच्च हो तो नीचे की छोटी-मोटी बातें अपने-आप प्राप्त होगी।

इसलिये ये गुण साधक को अंगीकार करने चाहिये। ये गुण माने नारायणत्व या सिद्धि तक पहुँचने के लिये निर्मित सोपान। ये गुण भक्ति व ज्ञान की कसौटी हैं।

यदि भक्त का एक लक्षण भी जीवन में आ जाय तो जीवन धन्य हो जाय। और भक्त का एक लक्षण भी मानव जीवन में आकर प्रतिफलित हो जाय तो मानव देवता बन जाय। एक प्रतिशत लोगों में भी यह लक्षण आ जाय तो सारा संसार बदल जाय। देव लोक में परिणत हो जाय। भक्त और भगवान् में अभेद हो जायगा।

ये बड़े पवित्र लक्षण हैं, इसकी अनुभूति करें। इन लक्षणों को बड़ी श्रद्धा से श्रवण करें और बार-बार इस बात का संकल्प करें कि हम आज तो वहाँ नहीं पहुँचे हैं यह तो ठीक है लेकिन हमारा गन्तव्य क्या है? हमारा प्राप्तव्य क्या है? हमारा लक्ष्य क्या है यह जितना स्पष्ट होगा और अपनी स्थिति में और उसमें जितना अन्तर है, वह अन्तर हमको चुभेगा। वह अन्तर हमको प्रेरित करेगा कि हम उनकी ओर, और भी अधिक बढ़ें। और यह अन्तर मिट जाय भगवान् की कृपा से इसलिये ज्ञानी भक्त के, सिद्ध भक्तों के लक्षण श्रद्धापूर्वक सुनें—

अद्वेष्टा—भक्त किसी से द्वेष नहीं करता। द्वेष ही विष है। जो द्वेषी और द्वेष के पात्र दोनों को जलाता है। मार डालता है। द्वेष पहले तो अपने को जलायेगा। कोई भी मनोविकार अपने आश्रय को दूषित करता है और फिर विषय को। विषय पर तो कभी कारगर होता है कभी नहीं भी। पर अपने आश्रय को तो अवश्य दग्ध करेगा। पहले हम अपने मन को खराब करते हैं, अपना अकल्याण करते हैं फिर द्वेष के पात्र का अकल्याण करते हैं? द्वेष के कारण ही घर में एक चूल्हे से पाँच चूल्हे होते हैं। अपनी पत्नी और बच्चों के अलावा अन्यों के प्रति परायेपन का भाव आ जाता है। वही द्वेष ही बाद में शत्रुता के रूप में, मन-मुटाव के रूप में। द्वेष, फिर परस्पर शीत युद्ध यानी एक-दूसरे की निन्दा एवं उसका प्रचार बाद में वह शीत युद्ध ही Hot war में बदल जाता है। द्वेष की आग जो घर से प्रारम्भ होती है, फिर पड़ोस में, फिर जाति, फिर राष्ट्र में, फिर संसार में फैल जाती है। द्वेष के कारण मानव मन फटा रहता है। डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं 'मानवता एटम बम के फटने से उतनी दुःखी नहीं है जितनी कि मानव मन के फटने से।

वस्तुतः, मनुष्य का स्वयं के प्रति एवं अपनों के प्रति स्वाभाविक राग होता है तथा दूसरों के प्रति द्वेष होता है।

राग और द्वेष परस्पर एक-दूसरे के पूरक मनोविकार हैं—बिना राग के द्वेष और बिना द्वेष के राग हो ही नहीं सकता। एक के प्रति राग का अर्थ ही अन्यों के प्रति द्वेष। चाहे व्यक्ति उसे स्वीकार करे या न करे किन्तु राग और द्वेष एक ही

सिक्के के दो पहलू हैं। यदि अध्यापक कक्षा के अपने किसी प्रिय छात्र को अवैध रूप से एक अंक अधिक दे देता है तो वह जाने-अनजाने शेष सभी छात्रों के प्रति द्वेष का व्यवहार कर रहा है क्योंकि प्रिय छात्र के एक अंक द्वारा एक सीढ़ी ऊपर चले जाने से शेष सभी क्रमशः एक-एक सीढ़ी नीचे हो जायेंगे। जिसका प्रथम स्थान बनता था उसका द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ का पंचम इस प्रकार सभी एक-एक दर्जा नीचे गिर जायेंगे। अतः एक को अनुचित रूप से ऊपर उठाना शेष सबको अनुचित रूप से गिराने के बराबर हो जायेगा। अतः राग में द्वेष गुप्त रूप से छिपा हुआ ही है। स्वामी रामतीर्थ जब अमेरीका में थे तो एक अमरीकन महिला जिसका इकलौता पुत्र मर गया था उसने स्वामीजी के पास आकर कहा, मुझे शान्ति दीजिये। मेरा इकलौता पुत्र मर गया है। स्वामीजी ने कहा, पुत्र को चिर निद्रा में सोने दो शान्ति प्राप्त हो जायेगी। उसने आक्रोश में चिल्लाकर कहा, ओ भारतीय स्वामी! आप जवान माता के मन को नहीं पहचानते मुझे मेरा पुत्र चाहिये। स्वामीजी ने कहा, यदि आपमें मातृत्व की लालसा शेष है तो उठा लो उस रोते हुए हब्शी बच्चे को और अपने बेटे के समान लालन-पालन करो, तुम्हें शान्ति मिल जायेगी। इस पर विदेशी महिला ने पुनः आक्रोश में भरकर कहा, यह असम्भव है। यह हब्शी बच्चा गन्दगी से भी अधिक गन्दा है, मैं उसको स्पर्श भी न करना चाहूँगी। उसे देखने से भी मुझे घिन्न आता है और आप मुझे उसे उठाकर चूमने, पुचकारने तथा बेटे के समान पालने की बात करते हैं, यह असम्भव है। स्वामी! तुम एक जवान माता के मातृत्व से क्रूर मजाक कर रहे हो। पर स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा, माँ! या तो अपने बेटे का राग छोड़ दो या पराये बेटे का द्वेष छोड़ दो। तुम्हें तुरन्त शान्ति मिल जायेगी। न तुमसे अपने बेटे का राग ही छोड़ा जाता और न पराये बेटों का द्वेष ही। भगवान् ने तुम्हें इसी पाप का दण्ड दिया है। महिला ने रो-रो कर अन्त में कोई उपाय न देखते हुए हब्शी बच्चे को उठा लिया। उसे प्यार से पुचकारा और अपने बेटे की तरह पाला-पोसा, पढ़ाया। उसे शान्ति मिल गयी।

आज मानवता राग-द्वेष की दो विषम अग्नि ज्वालाओं के बीच में जल रही है। क्लबों एवं भोग भवनों में राग की अग्नि जोर पकड़ रही है। कचहरी और युद्ध स्थलों में द्वेष की अग्नि भड़क रही है। यदि मानव पैट्रोल का एक ड्रम अपने सिर पर उड़ेल ले और अपने पैर और कपड़ों पर उड़ेल ले और स्वयं अपने हाथ से आग लगा ले और चौराहे के बीच में छाती पीटकर रोये कि मुझे बचाओ तो इसमें दोष किसका है। आज मानव स्वयं ही राग और द्वेष की अग्नियों को अपने मन की स्वीकृति से भड़काकर उनके बीच में करुण क्रन्दन कर रहा है। गीता के समत्व दर्शन के अमृत जल के बिना उसे कौन बचा सकता है। किसी दूसरे द्वारा लगायी हुई आग को तो हम प्रयास करके बुझा सकते हैं, किन्तु जो राग और द्वेष की आग

हमारी ही सहमति से हम ही ने भीतर-भीतर छिपकर लगायी उसे बुझाए भी तो कौन? इस आग को गीता माता ही बुझा सकती है।

जिसके प्रति राग है उसके दोष भी गुण दिखलाई पड़ते हैं। और जिसके प्रति द्वेष है उसके गुण भी दोष के रूप में दिखलाई पड़ते हैं, बनावटी लगते हैं।

फिर अपनों के प्रति रियायत का भाव जागता है एवं दूसरों के प्रति दण्ड का भाव। और फिर जब तक हम अपने मन में द्वेष के पात्र को बैठा रखते हैं, तब तक हम भगवान् से दूर रहते हैं। क्योंकि एक साथ हृदय में भगवान् और शत्रुता दोनों नहीं रह सकते हैं।

इसलिये सच्चा भक्त होता है उसकी दृष्टि होती है—

सीयराममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।। मानस 1/7/2

सबमें वह भगवान् का ही रूप देखता है तब उसके लिये किसी के प्रति द्वेष का अवसर ही कहाँ बचता है।

उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध।।

जब भगवान् के अलावा कोई है नहीं, और भगवान् किसी का अमंगल कर सकते नहीं। अतः निश्चय ही भगवान् मेरी सहिष्णुता की परीक्षा ले रहे हैं।

गीता में भी भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। 9/29

मैं सब भूतों में सम है, इसलिये मेरे लिये कोई राग-द्वेष का पात्र नहीं है।

जीवन-मूल्यों के आधार पर लड़ना भी पड़े तो भी व्यक्तिविशेष या जातिविशेष पर द्वेष नहीं पालते। सिक्ख गुरु मुगल शासकों के विरुद्ध आजीवन उनके अन्याय के प्रति लड़ते रहे पर उनके प्रति विद्वेष नहीं पाला। वीर शिवाजी, दुर्गादास औरंगजेब से, मुसलमानों से लड़ते रहे पर व्यक्तिगत तौर पर उनके प्रति द्वेष नहीं पाला। इसलिये तो औरंगजेब की बेटी को दुर्गादास ने उनके धर्म के अनुसार शिक्षित किया। यही स्थिति विप्लवी बंधुओं की थी, अंग्रेजों से लोहा लेते रहे पर मन में विद्वेष नहीं पाला—भगतसिंह, खुदीराम बोस आदि। गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य जब उनका साथ छोड़ गये तो वे भी विचलित नहीं हुए।

तो सच्चा भक्त किसी के प्रति द्वेष दृष्टि से नहीं देखता है तो किस दृष्टि से देखता है। मित्र की दृष्टि से देखता है। वेद में आया है—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

समस्त प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखें। हमारा कोई दुश्मन नहीं है, हमारा कोई अमित्र नहीं है।

बाइबिल भी कहता है Love thy neighbour as thyself. अपने पड़ोसी को अपनी तरह प्यार करो। पर प्यार क्यों करो अपनी तरह इसका उत्तर बाइबिल के पास नहीं है। ड्यूसन कहते हैं Love the neighbour as thy self, but why? The answer is not in the Bible, the answer is to be found in the Vedanta. जिसके प्रति मैत्री भाव होता है उसके प्रति स्वाभाविक करुणा का भाव रहता है। करुणा केवल अभावात्मक स्थिति नहीं है। भावात्मक स्थिति है। दुःख को दूर करने की प्रेरणा करुणा देती है। सहानुभूति और करुणा में अन्तर है। जब तक आप दूसरे के दुःख से द्रवित होकर उसका निवारण करने का प्रयास न करें तब तक आपने उस पर करुणा नहीं की। करुणा में लिंकन का दृष्टान्त बड़ा ही मनन योग्य है। लिंकन की क्या अद्भुत दृष्टि है कि सूअर को कष्ट में देखकर मुझे कष्ट हुआ। क्या अद्भुत दृष्टि है कि मुझे दुःख हुआ और अपने दुःख को दूर करने के लिये मैंने यह किया है। कोई करुणा के कारण नहीं, कोई दया के कारण नहीं। ऐसे करुणावान भक्त होते हैं।

जो सबका होता है वह किसी का नहीं होता यह भी एक नियम है। तो किसी के प्रति द्वेष नहीं। सबके प्रति मैत्री भाव, सबके प्रति करुणा का भाव। करुणा तो है लेकिन बंधन नहीं। राजा भरत की कथा हम सब जानते हैं। मृग शावक के ऊपर मन में करुणा आयी। उसको अपने आश्रम में रखा। आसक्त हो गये। उनको मृग का ही जन्म ग्रहण करना पड़ा। इसलिये निर्मम। मैत्री करुणा तो ठीक है लेकिन किसी के भी प्रति ममता नहीं, आसक्ति नहीं। निर्मम शब्द बड़ा अद्भुत है। निर्मम शब्द का अर्थ हिन्दी में कठोर होता है। पर संस्कृत में निर्मम का अर्थ है 'मेरापन' के भाव से अलग हो जाना। मैं-मेरा से अलग हो जाना। ममता को तोड़ने के दो उपाय हैं। एक भक्ति का रास्ता है, दूसरा ज्ञान का रास्ता है।

भक्ति का रास्ता है भगवान् कृष्ण से भी ममता करना ममता को तोड़ देना है। हम जानते हैं बंधन से कोई बड़ा हो जाय तो बंधन टूट जायगा। बंधन से कोई बड़ा हो जाय तो बंधन को तोड़ देगा। ममता के बंधन में हम-आप बंधे हैं। हम सब जीव माया से त्रस्त हैं। ममता हमको बाँध देती है। पर क्या ममता के बंधन में भगवान् आयेंगे? ममता से बड़े हैं। माया से बड़े हैं। अतः भगवान् से ममता करना भी एक प्रकार से ममता से मुक्ति पाना है। भावात्मक रूप से वह भगवान् से ममता करते-करते सारे संसार से ममता रहित हो जाना है। या बिल्कुल ममता का त्याग कर दो यह ज्ञान की भूमिका है। भगवान् से ममता करके ममता से उबर जाना यह भक्ति की भूमिका है। यहाँ ममता भगवान् से करके क्योंकि 'मय्यर्पित

मनोबुद्धि' करके फिर किसी भी संसार की वस्तुओं के प्रति ममत्व बुद्धि नहीं, अपनेपन की बुद्धि नहीं। सब राम का है मेरा कुछ भी नहीं है। निर्मम का मतलब है संसार की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। संसार की सब वस्तुएँ भगवान् की हैं। भगवान् की वस्तु को अपनी कहना यह बड़ा भारी अहंकार है, मूढ़ता है। यह अन्याय है। लक्ष्मीपति तो भगवान् हैं। हम अपने आपको लक्ष्मीपति कहते हैं यह गलत है। सबके राजा भगवान् हैं। अपने-आपको राजा मानना, भू-पति मानना बेईमानी है। सब वस्तुएँ भगवान् की हैं, हम भी भगवान् के हैं। कोई भी वस्तु मेरी नहीं है यही भक्ति के अन्तर्गत निर्मम होना है। वह सभी वस्तुओं को भगवान् की अमानत मानता है जो उसको सदुपयोग के लिये मिली हैं। वह केवल न्यासी है, सदुपयोग का अधिकारी है।

निरहंकार—किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं। अहम् और अहंकार में मौलिक अन्तर है। जब हम कहते हैं—अहं ब्रह्मास्मि तो वह अहं हमारा शुद्ध रूप है। अहं का जो वास्तविक अर्थ है अहमर्थ जिसको आत्मा कहते हैं। शुद्ध-बुद्ध आत्म स्वरूप को अहं कहते हैं 'अहंब्रह्मास्मि' इसके लिये अहमर्थ का प्रयोग होता है।

अहंकार का मतलब प्रकृति के कारण जिसमें अहंबुद्धि आई है, जो हम नहीं हैं। जो हम वास्तव में नहीं हैं, लेकिन अज्ञान के कारण, अविद्या के कारण जिसमें हमने अपने 'मैं-पन' को मान लिया है। यह 'शरीर' यह मैं हूँ। और इसका कारण अहंकार। अहंकार कई कारणों से हो सकता है, आ सकता है—कुलं, वितं सुतं शीलं दानो, त्यागो तपो तथा सात बड़े कारण हैं जिसके कारण अहंकार होता है। भाई मैं बड़े उत्तम कुल का हूँ। मेरे पास बहुत रुपया पैसा है। मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ। अपने त्याग का भी अहंकार होता है, अपने दान का भी अहंकार होता है, अपने तप का भी अहंकार होता है। यहाँ तक कि दासपने का भी अहंकार होता ही है।

भक्त लोगों ने कहा, हम सब अहंकार छोड़ेंगे लेकिन एक अहंकार नहीं छोड़ेंगे। तुलसीदासजी कहते हैं चाहे मुझे अज्ञानी कह लो, बंधे हुए हो कह लो, मूर्ख कह लो। मैं एक अभिमान को नहीं छोड़ सकता—'मैं सेवक रघुपति पति मोरे' भूलकर भी मेरे मन से यह अहंकार न जाय कि मैं सेवक हूँ, रामजी मेरे स्वामी। मैं सेवक रघुपति पति मोरे' यह अभिमान मैं नहीं छोड़ूँगा। तो इस अहंकार में कितना स्वारस्य है, कितनी विनम्रता है। इस अहंकार के अलावा भक्त अपने पर किसी भी कर्तृत्व का अभिमान नहीं रखता। वह अपने अहंकार का पोषण नहीं करता। वह सारा श्रेय भगवान् को देता है, भगवान् के अहंकार का पोषण करता है। वह कहता है, कृष्ण करा रहे हैं। किसी ने आकर भक्त की प्रशंसा कर दी—आपने कितना बढ़िया कार्य किया है। वह तुरन्त कहेगा, यह तो प्रभु ने किया

है। मैंने क्या किया? मैं तो यन्त्र हूँ। भगवान् का अहंकार ही अहंकार है। हमारा अहंकार क्या अहंकार है।

निर्ममो निरहंकार समदुःखसुखः क्षमी।।

भक्त सुख दुःख में सम रहता है। अनुकूल प्रतीति से मन को सुख प्राप्त और प्रतिकूल प्रतीति से दुःख होता है। सुख एक मोहक सपना है जो टूटेगा ही टूटेगा। दुःख जितनी भी पीड़ा दे पर बुलबुला है फूटेगा ही फूटेगा। अनन्त काल के लिये सुख नहीं, अनन्तकाल के लिये दुःख नहीं। अच्छा सुख सपना, दुख बुदबुदा दोनों हैं मेहमान। जो भी थोड़े समय के लिये आते हैं उनको मेहमान कहते हैं। मेहमान अपने आप आये हैं, नहीं। किसी ने भेजा है। आपके घर मेहमान को किसी परम सुहृद ने भेजा हो तो आप उसका अपमान करेंगे। उसकी ओर देखेंगे कि भेजने वाले की ओर देखेंगे। भेजने वाले की ओर देखकर जो आया है उसका आप सम्मान करेंगे। वैसे सुख आता है तो प्रभु ने भेजा है। दुःख आता है तो वह भी मेरे प्रभु ने भेजा है। क्योंकि प्रभु के अलावा तो कोई और है नहीं और प्रभु किसी का अमंगल कर सकते नहीं। सुख-दुख दोनों के माध्यम से प्रभु पाठ पढ़ाते हैं। अतः आओ दुःख तुम्हारा स्वागत है।

राजी हूँ मैं उसी में, जिसमें तेरी रजा है।
याँ यूँ भी वाह वाह है और यूँ भी वाह वाह है।।

जिसमें तेरी प्रसन्नता है उसी में मैं प्रसन्न हूँ। सुख भेजो तो भी वाह-वाह है। यूं भी वाह-वाह। और दुःख भेजो तो वू भी वाह-वाह है। भक्त सुख में फूलकर कुप्पा नहीं होता और दुःख में सूखकर छुहारा नहीं होता। यह ऊँची अवस्था है। सिद्ध की अवस्था है। साधनावस्था में हम देखने की चेष्टा करेंगे कि दुःख में प्रभु का ही कोई मंगलमय संकेत है जिसे मैं अभी समझ तो नहीं पा रहा हूँ। चित्त तो अभी व्यथित है। समझा दो, प्रभु! इसके पीछे भी तुम्हारा ही मंगलमय हाथ है।

तो भक्त सुख-दुःख में अपना सन्तुलन नहीं खोता। मन के समत्व को बनाये रखता है। गीता का एक आधारभूत सिद्धान्त है समत्व। जिसे यहाँ फिर दुहराया गया है। सच्चे भक्त को सुख और दुःख उसको साधना मार्ग से, कर्तव्य पथ से विचलित नहीं कर सकते। न सुख आकृष्ट करके विचलित कर सकता है और न दुःख भयभीत करके विचलित कर सकता है। जो किसी भी आकर्षण, प्रलोभन या भय से ऊपर उठा हुआ है। उसके लिये सुख-दुःख दोनों समान हैं। यह भक्त का लक्षण है।

क्षमी—जो सबको क्षमा करता है। मेरे गुरुजी एक बात कहते थे कि हम लोग अपने को कितनी बार क्षमा करते हैं, सच्ची विचार कर कहना। कभी-कभी अपनी जीभ दाँत से कट जाती है कि नहीं? तो क्या अपना दाँत तोड़ देते हैं? नहीं तोड़ते। कभी-कभी बड़ी गलती होती है कि नहीं। तब सिर फोड़ते हैं क्या? नहीं। तब क्षमा

ही तो करते हैं। अपने को क्षमा करते हैं जाने दो। तो अपने को क्षमा करते हैं तो दूसरे को अपने से अलग मानते हैं इसलिये दण्ड देते हैं, इसलिये क्रोध करते हैं। भगवान् के सब हैं तो सब हमारे ही हैं। इसलिये कोई हम से अलग नहीं है। इसलिये सबको क्षमा कर दो। जिसने हमारा अपराध भी किया उसको भी। मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता है कि दूसरे की आँख का तिल दिखलाई देता है पर अपनी आँख का ताड़ भी नहीं दिखलाई देता। मनुष्य स्वयं के प्रति क्षमाशील रहता है पर दूसरों के प्रति अति कर्तव्य-कठोर बनता है। अपने द्वारा भूल होने पर झूठा बहाना बनाता है और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है। परन्तु इसके विपरीत दूसरे की थोड़ी भूल भी उसे सुहाती नहीं। फिर विचारें भूल किससे नहीं होती। मनुष्य मात्र स्खलनशील प्राणी है। कितना ही बड़ा कर्तृत्ववान, बुद्धिमान्, शक्तिशाली, प्रतिभा सम्पन्न पुरुष हो उसके हाथ से भी कोई-न-कोई भूल होती ही है। इस विश्व में केवल परमात्मा ही पूर्ण है, मनुष्य मात्र अपूर्ण हैं। ध्यान देवें क्षमा वही कर सकता है जो अपराधी को दण्ड देने का सामर्थ्य रखता हो। असमर्थ लोग क्षमा नहीं कर सकते। असमर्थ लोग तो असहाय हैं। वास्तविक क्षमाशील वह है जो अपराधी को दण्ड देने का सामर्थ्य रखता है। क्षमा वीरों का भूषण है क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो, किसी ने हमको पागल कहा, तो क्या हम पागल हो जाय। किसी ने गलत काम किया तो क्या हम भी उसकी देखा-देखी गलती करें। नहीं, उसको अबोध समझकर, अपरिपक्व समझकर, उसे करुणा एवं दया का पात्र समझकर क्षमा करें। उसमें भी भगवान् का दर्शन कर उसे घृणा का पात्र न समझकर कृपा का पात्र समझकर क्षमा करें कि यह अबोध है। उम्र होने पर भी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई बाल बुद्धि का है। इसे पता ही नहीं यह क्या कर रहा है अतः कृपा का, क्षमा का पात्र है। सन्त और बिच्छू की कथा इस दृष्टि से मनोरंजक है। सन्त तो उसे बचाने की चेष्टा कर रहा है पर बिच्छू को बोध ही नहीं, वह उसको डंक मार रहा है। महर्षि दयानन्द ने जहर देने वाले रसोइये को क्षमा देकर भाग जाने का अवसर प्रदान किया था।

फिर जो महानता के पथ पर चलना चाहते हैं, उनको समाज का तिरस्कार सहना पड़ता है। ज्ञानेश्वर महाराज को संन्यासी के बच्चे कहकर क्या नहीं सहना पड़ा। माता-पिता की बलि लेकर भी समाज का कोप शान्त नहीं हुआ। वैसे ही तुलसीदास को भी। समाज ने इनको विष ही दिया पर इन्होंने समाज को अमरता प्रदान की। समाज को सदैव क्षमा ही किया। ज्ञानेश्वरजी के साहित्य में कहीं भी किसी के विरुद्ध फरियाद या शिकायत नहीं है—रोष, ईर्ष्या, मत्सर का कहीं लवलेश नहीं है।

सुकरात को कारागार से भाग जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। यदि वह चाहता तो युवा पीढ़ी को भड़काकर विप्लव कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा कुछ

नहीं किया। वह कारागार में ही रहा और उसने प्रसन्नतापूर्वक विषपान किया। मरते दम तक उसने अपने शिष्यों और अन्य आगन्तुकों को ज्ञान का अमृत पिलाया। उसे दण्ड देने वाले अन्यायी शासकों को उसने शान्त चित्त से क्षमा किया।

क्षमा करते समय यथार्थ व्यावहारिकता का बोध होना चाहिये। पर इसके अभाव के कारण यह गुण सद्गुण विकृति बन गया, हमारे नाश का कारण बना। यथार्थ व्यावहारिकता के अभाव में जहाँ क्षमा का उपयोग होना चाहिये वहाँ हम कठोर बने रहे, और जहाँ क्षमा नहीं दण्ड मिलना चाहिये थे वहाँ हम बार-बार क्षमा करते रहे। पृथ्वीराज चौहान ने राष्ट्र के शत्रु मुहम्मद गोरी को बार-बार क्षमा किया बिना शत्रु की प्रकृति को समझे और इसका परिणाम सारे देश को भोगना पड़ा। व्यक्तिगत शत्रु को क्षमा किया जा सकता है, राष्ट्र के, धर्म के, संस्कृति के शत्रु को क्षमा नहीं किया जा सकता पर हम 1200 वर्षों से आज तक यही भूल करते आ रहे हैं। और जहाँ क्षमा करके अपने समाज में अंत्यज को पुनः आत्मसात् करना चाहिये था वहाँ हम कठोर बने रहे। परकीय विधर्मी मुसलिम आक्रमणों के समय अपने प्राण, परिवार एवं उनके अत्याचारों से बचने के लिये, उनके आतंक से आतंकित होकर अनेक लोगों ने विवश होकर परधर्म को स्वीकार किया। कुछ काल के बाद उन्होंने अथवा उनके वंशजों ने अपने मूल धर्म में वापस लौटने की इच्छा प्रदर्शित की। परन्तु कठोर अनुदार, भीरु और अदूरदर्शी पण्डितों ने उन्हें स्पष्ट नकार दिया। शताब्दियों तक यह देश अपनों के प्रति क्षमाशीलता से विमुख रहा। उसका फल गत सहस्र वर्ष से हम लोग भोगते आ रहे हैं। और यह भूल अभी भी कायम है। जिन्हें दण्ड देना चाहिये था उन्हें निरन्तर अभयदान और जिन्हें क्षमा किया जाना चाहिए था उन्हें दण्ड देते आ रहे हैं। कश्मीर समस्या, मुसलिम समस्या, ईसाई समस्या इसी कारण उत्पन्न हुई जो अब नासूर बन गयी है।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। 12/14

जो निरन्तर संतुष्ट, योगी (अर्थात् समाहित चित्त) संयतात्मा, दृढ़निश्चयी और मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

सन्तुष्टः सतत-सब स्थितियों में संतुष्ट। कभी असंतोष नहीं। चाह की कोई सीमा नहीं है। भागवत् में आया है—एक व्यक्ति को विश्व का सम्पूर्ण राज्य मिल जाय। विश्व की सारी सुन्दरियां मिल जाय तब भी तृप्ति नहीं होती। इसका प्रमाण, असुरों का जीवन। गांधीजी कहते—प्रकृति माता में यह क्षमता तो है सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की, पर एक की भी इच्छा की पूर्ति करने की क्षमता प्रकृति में नहीं है। क्योंकि जिसके पास कुछ भी नहीं अर्थात् फकीर चाहता है सौ

रुपया हो जाय तो बहुत है। और जिसके पास सौ हैं वह चाहता है हजार हो जाय, और जो हजारपति है वह लखपती होना चाहता है, लखपती करोड़पति, करोड़पति चाहता है राजा हो जाऊं, राजा चाहता है चक्रवर्ती राजा हो जाय। पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा चाहता है कम से कम स्वर्ग का राजा इन्द्र होता, इन्द्र ब्रह्मा होना चाहता है। ब्रह्मा शिव का पद चाहता, शिव हरिपद चाहते हैं। तो बाहर से सदा के लिये संतुष्टि कभी किसी को हो नहीं सकती। बाहर की सन्तुष्टि सामयिक सन्तुष्टि है। जैसे एक बार भरपेट भोजन पाने से 4-6 घण्टे के लिये सन्तुष्टि होती है। वैसे ही बाहर एक वस्तु के चाह की पूर्ति अन्य अनेक चाहों को उत्पन्न कर देती है, जीवनभर यह अन्तहीन क्रम चलता रहता है। हम सिकन्दर की कथा जानते हैं कब्रिस्तान खुदवा-खुदवा कर धन बटोरते अतृप्त ही मरा। अतः बाहर से कोई सन्तोष लाभ नहीं कर सकता। जो संतोष होता है वह सामयिक अतः घटिया संतोष है। वास्तविक संतुष्टि तो भगवान् को पाकर ही होती है। अभाव की पूर्ति तो भगवान् को पाकर ही होती है। भगवान् को पाने के बाद फिर कोई अभाव नहीं रह जाता। भगवान् की प्राप्ति के बाद किसी चीज का भी अभाव नहीं। जब तक भगवान् से या आत्मा से अछूते रहते हैं तब तक अभाव में, चाह में जीते हैं और भीख का कटोरा लेकर सारी दुनिया में घूमते रहते हैं। पर भगवान् को पाते ही सारे अभावों की आपूर्ति हो जाती है। किसी चीज का अभाव नहीं, वह अपने भीतर में संतोष।

देखें इसमें दो बार संतोष है। 'संतुष्टो येन केनचित्' 12/19 यह बाहर से जो वस्तु मिले उसका संतोष है। 'संतुष्ट सतत' यह भीतरी संतोष है। भीतरी संतोष प्राप्त हो जाने पर, भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाता है। शरीर निर्वाह के लिये जो वस्तु भी मिल जाय उसी में संतोष, उसी में अलमस्त। सिकन्दर ने जब संत को ढूंढ़ने के लिये सैनिकों को भेजा। एक संत के पास जब सैनिक पहुंचे और कहा सिकन्दर के पास चलें वह आपको मालोमाल कर देगा। तब उन्होंने कहा, जो स्वयं अपने धन की भूख के लिये सारी दुनिया को लूटता फिर रहा है वह हमें क्या दे सकता है? हम आत्म धन के धनी हैं। मेरे लिये नदी का जल, वृक्ष की छाया एवं पाव भर आटा ही पर्याप्त है। इसलिये प्राचीन ऋषि लंगोट बंद थे। और हर हाल में अलमस्त थे। तो सच्चा भक्त सदा संतुष्ट रहता है, हर हाल में अलमस्त रहता है।

अतः हमारे पास कितना भी धन आ जाय—गोधन, गजधन, रत्नधन.... पर तृप्ति तो संतोषधन आने पर ही होती है, और संतोष धन भगवान् के संसर्ग में आने से ही प्राप्त होता है। तो बाहर का धन कोई वास्तविक धन नहीं है। वास्तविक धन संतोष है। और संतोष कैसे आता है, सतत भगवान् से युक्त रहने पर । तो जो सतत भगवान् से जुड़ा है, युक्त है वही सतत संतुष्ट होगा।

'यतात्मा' जिसने अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय पर संयम प्राप्त कर लिया है। 'यत' माने संयत। 'आत्मा' माने अपने-आप में। अपने आप का मतलब यहां शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धि है। तो जिसने अपने-आपको संयत कर रखा है, जिसने अपने आपको जीत रखा है और जो इन्द्रियों के अधीन नहीं है। जिसका सुख कहीं बाहर बंधक नहीं पड़ा हुआ है। हम लोगों का सुख बाहर बंधक है। कैसे सुख होगा—भेल-पूरी खाने से, चाट खाने से, आइसक्रीम, अमुक प्रकार के वस्त्र पहनने से, अमुक सिनेमा देखने से, अमुक स्थान पर घूमने से। आधुनिक मकान होगा तब हम सुखी होंगे। अब हमारा सुख बंधक है। जब तक यह बोध है सुख बाहर तब तक इन्द्रियाँ भी चपल बनी रहती हैं, बाहर की ओर दौड़ती हैं। जिसका सुख बाहर है, बाहरी वस्तुओं पर अवलम्बित है वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो भक्त है वह तो भगवान् से युक्त होने से उसका सुख बाहर नहीं अपने अन्तर् में निहित है इसलिये उसकी बाहर की दौड़ समाप्त हो गई है। इन्द्रियाँ शांत हो जाती है, इसलिये उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में है, यतात्मा है। जो सतत भगवान् से युक्त है वही यतात्मा भी है क्योंकि उसके सुख का स्रोत भगवान् हैं, अपना अन्तर् है।

दृढ़ निश्चय—सच्चा भक्त दृढ़ निश्चयी होता है। उसका निश्चय पक्का होता है। अतः वह सतत अपने अध्यवसाय में लगा रहता है। यही कारण कि कछुए की गति मन्द है पर दृढ़ निश्चय एवं सतत अपने अध्यवसाय में लगा रहा। परिणामतः चंचल खरगोश हार गया मन्द गति कछुआ जीत गया। प्रारम्भिक पराजय से कछुआ घबराया नहीं, अपने अंगीकृत कार्य से विचलित नहीं हुआ। दृढ़ता के साथ चलता रहा और जीत गया। दृढ़ निश्चय एवं सातत्य से जो कार्य करता है वही अन्त में विजयी होता है।

संसार के सब देशों और युगों में जो-जो विद्वान् ज्ञानी, ध्येयवादी, यशस्वी, सन्त, महन्त, कलाकार, वीर किंवा पराक्रमी पुरुष हुए हैं उसमें से किसी ने अपने जीवन में दृढ़ निश्चय की पूंजी को कभी समाप्त नहीं होने दिया और अपने अध्यवसाय में सातत्य से लगे रहे। इसलिये परिस्थिति को मात देकर वे विश्वव्यापिनी कीर्ति प्राप्त कर सके।

आज हमारे जीवन में जो असफलता और दुःख दिखलाई देता है उसकी जड़ में हमारे निश्चय में दृढ़ता नहीं, और अपने प्रयास में सातत्य नहीं है। हम बिना यथार्थ परिश्रम के, अपेक्षित परिश्रम के पूर्व ही सफलता चाहते हैं। हम चट मंगनी पट विवाह चाहते हैं, हम रातोरात करोड़पति बनना चाहते हैं, एक दिन में ही जो जिस क्षेत्र में है उसमें सफलता पाना चाहता है, कुछ दिन में ही गामा पहलवान बनना चाहता है, कुछ दिन के प्रयास से ही बढ़िया गायक बनना चाहता है।

सच्चे भक्त का दृढ़ निश्चय होता है कि मुझे भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिये। जब तक निश्चय में कच्चापन रहेगा तभी तक पतन, स्खलन की सम्भावना, आशंका बनी रहेगी। गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास। थोड़े से परिश्रम से सफलता नहीं मिली तो निश्चय बदल लिया। इससे काम नहीं चलता।

दृढ़ निश्चय होना चाहिये और सातत्य से उसमें लगे रहना चाहिये। वरूं तो शम्भु नहीं तो रहूं कुंवारी। मैं वरूंगी तो शम्भु को नहीं तो कुंवारी की कुंवारी रह जाऊँगी। यह पक्का निश्चय, दृढ़ निश्चय था। सप्त ऋषियों ने सारे दोष शिवजी के बता दिये और सारे गुण विष्णुजी के बता दिये उमा को। और कहा कि विष्णु से तुम्हारा विवाह करा देंगे। उमा कहती है आपको विवाह कराना है तो बहुत लोग हैं जाइये उनका कराइये। मुझको तो शिवजी स्वयं आकर कहें कि मुझे नहीं वरो तो भी मैं नहीं मानूंगी। वरूं तो शम्भु नहीं तो कुंवारी रह जाऊंगी ऐसा दृढ़ निश्चय हो।

ऐसे ही बालक ध्रुव का दृढ़ निश्चय कि स्वयं नारायण की गोद में ही स्थान लूँगा। उसे अपने ध्येय से च्युत करने के लिये राजा संदेश भेजते हैं कि मैं अपना आधा राज्य देता हूं। इन्द्र ध्रुव की माता बनकर विचलित करने आये पर ध्रुव अपने निश्चय से डिगे नहीं और अपनी साधना में सतत लगे रहे।

तो पक्के निश्चय के साथ भक्त अपने मन-बुद्धि को भगवान् को समर्पित कर देता है। अपना अहंतास्पद और ममतास्पद भगवान् को ही बना लेता है। मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं। अपने मन और बुद्धि को भगवान् को ही समर्पित कर देता है। मन-बुद्धि को समर्पित करने का अर्थ है, भगवान् को सब-कुछ दे दिया। और जिसने भगवान् को सब-कुछ दिया पर अपनी मन-बुद्धि नहीं दी, उसने मानो सब-कुछ देकर भी कुछ भी नहीं दिया। यह बात हम लोग आठवें श्लोक में भी देख चुके हैं। यहाँ भगवान् सच्चे भक्त का लक्षण बताने के क्रम में इसे दुहरा रहे हैं। इस प्रसंग में अब्दुल रहीम खानखाना का बड़ा अद्भुत रोचक संवाद है भगवान् के साथ।

हमारे यहां हुए अब्दुल रहीम खानखाना। वे हिन्दी के भी कवि हैं, उर्दू के भी कवि हैं तथा सब लोग जानते हैं वे संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने बहुत सुन्दर श्लोक बनाये हैं। वे भगवान् कृष्ण के बड़े भक्त थे। तो अब्दुल रहीम खानखाना एक बार भगवान् कृष्ण के समक्ष गये। भगवान् से कहते हैं आपके पास जो भी आता है कुछ-न-कुछ देता है आपको क्या दूँ? भगवान् ने कहा, तुम भी कुछ दे जाओ। सारी दुनिया पैसा-रुपया मन्दिर में चढ़ाकर जाती है, तुम भी कुछ चढ़ा जाओ। तब अब्दुल रहीम खानखाना कहते हैं, महाराज! आपको पैसा-टका देकर क्या करूँगा? सारी दुनिया का खजाना रत्नाकर समुद्र आपका घर है जहाँ रत्नों की खान है। जहाँ से रत्न निकलते हैं। ऐसी जगह तो आपका घर है। आपको

पैसा-टका देना बेकार है। फिर सारी दुनिया जिस लक्ष्मी के लिये तरसती है वह लक्ष्मी आपकी घरवाली है। वह निरन्तर आपके पैर दबाती रहती है। उससे अधिक आपको कौन क्या दे सकता है। तो भगवान् कहते हैं अरे भाई, तुम पैसा-टका नहीं देना चाहते हो। यह तो नहीं देने के तरीके हैं, बहाने हैं। तो तुम मन्दिर के लिये जमीन दे दो। तब रहीम कहते हैं कोई एक गाँव का मालिक होता है, कोई एक State का पर आप तो पूरे जगत के मालिक हैं। तो जो पूरे जगत का मालिक है उसको कोई क्या दे सकता है। पर एक चीज ऐसी है जो तुम्हारे पास नहीं है और मेरे पास है। इतना जब कहा तो भगवान् घबरा गये। अभी तक तो तुम खुशामद करते रहे। अब कहते हो एक चीज ऐसी है जो तुम्हारे पास है और हमारे पास नहीं है। बताओ वह कौन-सी चीज है जो तुम्हारे पास में है और मेरे पास नहीं है। रहीम ने कहा, आपके पास मन नहीं है। आप बे-मन के आदमी हैं। आपने नारद से कहा है जहाँ-जहाँ भगवत चर्चा होती है वहाँ-वहाँ आप चले जाते हैं। जहाँ 5-6 अरब व्यक्ति हैं दुनिया भर के अन्दर। 24 घण्टे के अन्दर कहीं न कहीं भगवत कथा होती ही होगी। कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ अखण्ड कीर्तन होता रहता है। आपकी चर्चा होती रहती है। तो जहाँ-जहाँ आपकी चर्चा होती है वहाँ आपका मन चला जाता है। फिर बहुत से आपके भक्त ऐसे हैं जो नित्य हर समय आपको स्मरण करते रहते हैं जैसे गोपिया, सूर, मीरा, चैतन्य महाप्रभु उन्होंने आपके मन को चुरा लिया है, अपने पास बंदी बना लिया है। इसलिये आप बे-मन के आदमी हैं। इसलिये मैं आपको क्या दूं। और तो कुछ दे नहीं सकता। यही है कि आप मेरे मन को लेकर अपने पास रख लीजिये। रहीम का कहने का मतलब यह है कि अगर आपने सब चीज दे दी और मन नहीं दिया तो कुछ नहीं दिया। और अगर मन दे दिया और कुछ भी नहीं दिया तो सब-कुछ दे दिया।

जिसके प्रति हमारी महत्त बुद्धि होती है, श्रेष्ठ बुद्धि होती है उसी के प्रति हमारा तन, मन, धन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण व अन्तःकरण समर्पित होता है। और भक्त की भगवान् के प्रति सबसे अधिक महत्त बुद्धि होती है अतः मन-बुद्धि उनके प्रति समर्पित होता है। मन के समर्पित होते ही भक्त एकदम शांत हो जाता है। इस प्रसंग में अष्टावक्र और जनक का संवाद स्मरणीय है। जब अष्टावक्र जनक से गुरु दक्षिणा के रूप में मन को माँग लेते हैं तब जनक का जीवन-शांत समाहित हो जाता है। मन के समर्पण का अर्थ है सर्वस्व का समर्पण। भक्त के पास अपना कुछ रहा ही नहीं।

मानवीय मन की तीन प्रवृत्तियाँ हैं—ज्ञानात्मक (Cognition), रागात्मक (affection) तथा संकल्पात्मक इन्हें सरल शब्दों में Knowing, feeling and willing इनके अनुरूप जीवन के तीन शाश्वत जीवन-मूल्य हैं। जब तक हम

सचेतावस्था में हैं तब तक कुछ-न-कुछ जान रहे हैं, कुछ-न-कुछ अनुभव कर रहे हैं और कुछ-न-कुछ संकल्प कर रहे हैं। ज्ञानात्मक वृत्ति की पूर्ण तृप्ति पूर्ण सत्य को जानकर ही होती है। रागात्मक वृत्ति का सर्वोच्च मूल्य भारतीय विचारकों ने भक्ति को माना। क्योंकि सबसे महान् के प्रति सबसे पवित्र एवं पूर्ण निःस्वार्थ अनुराग का नाम भक्ति है, प्रेम है। एवं मानव की संकल्पात्मक वृत्ति का सर्वोच्च मूल्य कल्याण है। संकल्प कर्म का बीज है और कर्म संकल्प का पादप (पौधा) है। संकल्प रूपी बीज सूक्ष्म होने से प्रायः अदृश्य रहता है किन्तु उसी सूक्ष्म बीज से प्रकट होने वाला कर्म रूपी वृक्ष, प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है। संकल्प कर्म की मानसिक अवस्था है और कर्म संकल्प का भौतिक एवं शारीरिक संस्करण मात्र है।

ज्ञान-भक्ति और कर्म तीनों ही मन पर निर्भर हैं। ज्ञान में मन और बुद्धि को ही तो संस्कारित करते हैं एक दिशा में ढालते हैं। मन को अंग्रेजी सिखाते हैं तो अंग्रेजी सीख जाता है, मन को संस्कृत सिखाते हैं तो संस्कृत सीख जाता है। मन-बुद्धि उसी के अनुसार ढल जाते हैं।

संकल्प कर्म का बीज है। संकल्प मन से ही करते हैं तभी वह शरीर से कर्म के रूप में फलित होता है।

और भक्ति भी प्रेम भी मन से ही किया जाता है। अतः मन-बुद्धि के समर्पण का अर्थ है हमारा ज्ञान, हमारा समस्त कर्म और हमारा समस्त प्रेम भगवान् के प्रति समर्पित है। हमारे ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का आधार, आलम्बन प्रभु ही हो जाते हैं। हम प्रभु के लिये ही कार्य करते हैं, प्रभु से ही प्रेम करते हैं, और प्रभु का ज्ञान अर्जन करते हैं। अपने स्वरूप का ही बोध या ज्ञान प्राप्त करते हैं।

तो जो भक्त भगवान् को मन और बुद्धि से अर्पित है। ऐसे ही भक्त भगवान् को भी प्रिय हैं।

प्रेम से प्रेम होता है। सामने वाला अगर हमारे प्रेम को स्वीकार करके हम को भी प्रेम करता है तो प्रेम में असाधारण द्रुत गति से प्रगति होती है। तो भगवान् कहते हैं जो अपना मन मुझ में अर्पित कर देता है, जो बुद्धि मुझको अर्पित कर देता है मैं भी उसको प्यार करता हूँ। उसके प्रेम का प्रतिदान प्रभु देते हैं। तो यह जो उभयमुखी प्रेम है। यह प्रेम बहुत उत्कृष्ट उन्नत भूमिका का प्रेम है। मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यों मद्भक्त स मे प्रियः। कहकर भगवान् स्वीकार करते हैं कि मैं उसको प्यार करता हूँ। (भगवान् उसको ज्ञान भी देते हैं अनुभूति भी देते हैं जैसे रामकृष्ण परमहंस को। भगवान् उसके लिये योगक्षेम वहन रूपी कर्म भी करते हैं।)

यस्मानोद्विजते लोका लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रिय।। 12/15

जिससे कोई व्यक्ति उद्वेग (अर्थात् क्षुब्धता) को प्राप्त नहीं होता और जो (स्वयं भी) किसी व्यक्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष अर्थात् असहिष्णुता, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

यह बहुत कठिन श्लोक है। यही एक श्लोक ऐसा है जो ज्ञानी हुए बिना जीवन में घटित नहीं हो सकता। यही श्लोक शंकराचार्य पकड़ते हैं—यह लक्षण अज्ञानी में कैसे आ सकता है? शंकराचार्यजी कहते हैं यह ज्ञानी भक्त के बिना संन्यासी के बिना हो ही नहीं सकता। संन्यास लेने के समय सबको अभय देना पड़ता है। संन्यास जब लेता है कोई संन्यासी तब वह सारी सृष्टि को अभय देता है। तेग बहादुर कहते हैं—

भय काहु के देत नहीं, नही भय मानत आप कह नानक सुन रे मना।

जो किसी को भय नहीं देता और किसी से भय नहीं पाता गुरु तेग बहादुर उसी को ज्ञानी कहते हैं।

शंकराचार्यजी कहते हैं यदि वह साक्षी नहीं है, यदि वह ब्रह्म नहीं है, यदि वह सर्वात्मा नहीं है तो यह लक्षण किसी व्यक्ति का लक्षण कैसे हो सकता है। 'यस्मान्नोद्विजते लोकाः'—जिससे दुनिया में किसी को उद्वेग नहीं होता। लोकान्नोद्विजते च यः'—जो दुनिया में किसी से उद्विग्न नहीं होता। जो किसी को भय, घबराहट, उद्वेग देता नहीं है। और-और जो किसी से भय, उद्वेग, घबराहट लेता नहीं है।

हम किसी से उद्विग्न न हों, यह तो हम साधना के द्वारा, अभ्यास के द्वारा, भगवद्-भक्ति के द्वारा, अपने जीवन में ला सकते हैं कि हमारे इस नन्हे से दिल में उद्वेग न आने पावे, उछाल न हो। यह तो हम कर सकते हैं। पर हम से किसी को उद्वेग न हो, यह कैसे हो सकता है? दूसरे को हम उद्विग्न होने से कैसे बचा सकते हैं? हम से किसी को उद्वेग न पहुंचे इसका उपाय क्या है? तब शंकर बोलते हैं—भाई! जब अपने को साक्षी रूप में, ब्रह्म रूप में, सबके आत्मा के रूप में अनुभव करोगे तो साक्षी से किसी को उद्वेग नहीं होगा, ब्रह्म से किसी को उद्वेग नहीं होगा। इसलिये ज्ञानी भक्तों में यह लक्षण आ सकता है। अज्ञानी भक्तों में यह लक्षण नहीं आ सकता है। कोई गाली दे तो मैं उद्वेग को प्राप्त नहीं होता। यह तो ठीक है। पर मुझ से कोई उद्वेग को प्राप्त न हो यह इसका क्या मतलब है। ठीक है कि मैं किसी को उद्वेग नहीं देता। यदि मेरी प्रशंसा होती है तो कोई उद्वेग को प्राप्त होता है। आपने देखा होगा किसी की बड़ी प्रशंसा हो तो नाहक कुछ लोग बैठे-बैठे उद्वेग को प्राप्त होते हैं। उनको उद्वेग होता है। ईर्ष्या की आग उनके भीतर जलती है तो क्या कीजियेगा। कुछ लोग भक्त से इसलिये दुःखी हो जाते हैं

कि वह भक्त क्यों है? जो किसी महान् लक्ष्य को लेकर चलते हैं, सत्य पथ पर चलते हैं तो असत् पथ पर चलने वाले को सुहाता नहीं है। कोई साहूकार सत्यपथ से व्यवसाय करना चाहता है तो वह पुलिस को सुहाता नहीं है। यानी भक्त तो किसी को उद्वेग देता नहीं स्वयं सत्य पथ पर, महत्त लक्ष्य को लेकर चलता है तो बहुत से लोग अकारण उससे भीतर ही भीतर विद्वेष पालते हैं। उसको अकारण हानि पहुँचाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है भक्त को, ज्ञानी को किसी को भी उद्विग्न करने का साक्षात् कारण नहीं बनना चाहिये। उसके बावजूद भी हमसे, हमारी प्रतिभा से या हमारे ऊँचे आदर्श के कारण कोई उद्वेग को प्राप्त होता है, जलता है तो वह हमारे कारण उद्वेग को नहीं प्राप्त हो रहा है। वह अपने दोष के कारण, अपनी स्वयं की अपात्रता के कारण ईर्ष्या पाल रहा है। हमें जान-बूझकर लोगों के उद्वेग का कारण नहीं बनना चाहिये पर स्वयं अपनी अपात्रता, अपने दोष के कारण कष्ट पाता है तो उसका कोई उपाय नहीं है।

साधक जहाँ भलाई देखता, श्रेष्ठता देखता है, गुण देखता है, सज्जनता देखता है उसका प्रशंसक होता है, उसके साथ सहयोग की वृत्ति होती है। और जहाँ बुराई देखता है उसको या तो सुधारने का प्रयास करता है, नहीं सुधरने पर दण्ड शक्ति का प्रयोग करता है और यदि यह उसके वश का नहीं है संशोधन करना, दण्डित करना तो वह उसके प्रति उदासीन हो जाता है उसकी उपेक्षा कर देता है। साधक की अपने से निम्न के प्रति सहानुभूति एवं सहयोग की दृष्टि होती है, समान वालों के प्रति सख्यभाव होता है और अपने से ऊँचे वालों के प्रति आदर भाव, उससे सीखने का, ग्रहण करने का भाव होता है अतः वह किसी से उद्वेग को नहीं प्राप्त होता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं अपने से नीचे के प्रति हेय बुद्धि, समान वालों के प्रति ईर्ष्या वृत्ति एवं ऊँचे वालों के प्रति द्वेष बुद्धि होती है, उनको हानि पहुँचाने की बुद्धि होती है।

मेरी यह चेष्टा रहती है किसी को मुझसे उद्वेग नहीं हो पर कोई अपनी अपात्रता के कारण उद्विग्न होता है तो मैं क्या करूँ? मैं एम.ए. की परीक्षा में मित्रों के उद्वेग का कारण बना। क्यों? एम.ए. में खुली चोरी चली। पर मैंने नहीं की। किसी ने समय पर खाता नहीं दिया पर मैंने समय से खाता दिया। इससे मित्र उद्विग्न हुए और मेरे दो पेपर तो स्पष्ट रूप से खराब करवा दिये, प्रश्न पत्र की जानकारी हो गई है कह करके। दूसरी बार शोरगुल से बचने के लिये दूसरे कक्ष में जहाँ Private से परीक्षा दे रहे थे वहाँ गया तो आलकुसी छीटकर।

कई जन मेरे अध्ययन से, शंकराचार्यजी के पास पढ़ने जाने से, क्लास लेने से, जल्दी सोने एवं जल्दी उठने से जलते है। अब इसका मैं क्या उपाय करूँ। रास्ते में चलने पर कहते देखो, विवेकानन्द जा रहा है। इसमें फिर यही उपाय है कि मेरा प्रयास यह अवश्य रहे मुझसे कोई उद्वेग को न प्राप्त हो पर अपनी अपात्रता के कारण वह मेरे इन कार्यों से जल रहा है तो उसके भीतर में दोष है उसका कोई उपाय नहीं है। हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि हम किसी के प्रति उद्वेग का साक्षात् कारण न बनें। वे परीक्षा चोरी करते हैं तो मुझे भी क्या चोरी करनी चाहिये। वे समय पर नहीं उठते हैं तो मुझे भी समय पर नहीं उठना चाहिये। वे सत्संग में नहीं बैठते तो मुझे भी सत्संग नहीं जाना चाहिये। नहीं तो वे उद्वेग को प्राप्त होंगे। इसका कोई उपाय नहीं है।

अमेरीका में स्वामी विवेकानन्द पादरियों के उद्वेग का शिकार बने। रमण महर्षि चोरों के उद्वेग के शिकार बने। शंकराचार्य अन्तिम जीवन में कापालिक के शिकार बने। भगवान् कृष्ण को दुर्योधन के उद्वेग के कारण बंदी बनाने की चेष्टा की गई। गांधारी के उद्वेग का शिकार बन शाप का शिकार होना पड़ा। देश भक्त सामाजिक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक संस्थाएँ एवं संगठन ये जो स्वयं अपनी आपत्रता के कारण उद्वेग को प्राप्त होते हैं उसका कोई उपाय नहीं है। राजनेताओं के उद्वेग का शिकार बन रही हैं—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कल्याण आश्रम, विश्व हिन्दू परिषद्, स्वामी रामदेवजी का पंतजलि योग पीठ आदि-आदि।

हर्ष-अमर्ष, भय-उद्वेग

हर्ष—अनुकूल प्रतीति से हर्ष होता है। प्रतिकूल प्रतीति से अमर्ष (दुःख) होता है। एवं स्वयं की हानि की सम्भावना से भय होता है। अगर ऐसा हो तो क्या हो जायेगा? भय। तो भक्त इष्ट की उपलब्धि से फूलकर कुप्पा नहीं होता है। प्रतिकूलता से दुःखी नहीं होता। भक्त के केन्द्र में तो प्रभु होते हैं, अतः अनिष्ट की आशंका से उसे भय नहीं होता। जिसके लिए सर्वरूप में प्रभु ही विराज रहे हैं तो उसको भय कैसा? ऋषि अरविन्दजी को अलीपुर जेल में सब रूपों में भगवान् कृष्ण के दर्शन हुए—जेलर, जज, मजिस्ट्रेट, गवाह, वकील सबमें भगवान् कृष्ण के दर्शन। मोरे सैंया भये कोतवाल—अब डर काहे का? हमारे स्वामी तो भगवान् हैं अब हम डरें किससे?

अमर्ष का एक अर्थ 'असहिष्णु' भी होता है। दूसरों के आत्मोत्कर्ष के प्रति असहिष्णुता। दूसरों की उन्नति चाहे किसी भी क्षेत्र में हो चाहे आध्यात्मिक, चाहे सामाजिक या राजनैतिक आदि किसी भी क्षेत्र में हो, वह सह नहीं सकता, अनावश्यक रूप से जलता है। पर भक्त जो है वह किसी की भी किसी प्रकार की

प्रकार की उन्नति से प्रसन्न होता है और हृदय से भगवान् से उनके लिये आशीर्वाद की कामना करता है। हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो विश्व के सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु ही नहीं है वरन् उसको अपने आलिंगन में बाँध लेता है। हिन्दू धर्म की इसी विशेषता ने सारे विश्व की मनीषा को अपनी ओर आकृष्ट किया है और वे हिन्दू धर्म को ही विश्व धर्म के रूप में, सार्वभौम धर्म के रूप में, भविष्य के धर्म के रूप में देखते हैं। इस प्रकार भक्त हर्ष, अमर्ष और भय तीनों से मुक्त होता है। हर्ष-अमर्ष, भय और उद्वेग इनसे जो मुक्त रहता है, वे भगवान् को प्रिय हैं। भगवान् उनसे प्रेम करते हैं।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः। 12/16

जो अपेक्षा रहित है, जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है, जो अपने कर्तव्य कर्म में दक्ष है, जागृत है, जो संसार से अलिप्त है, तटस्थ है, निष्पक्ष है, जो सब आरम्भों का (कर्तृत्व के अभिमान का) त्याग करने वाला भक्त मुझे प्रिय है। भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुन को अपनी प्रियता प्राप्त करने का रहस्य बता रहे हैं। मानो भगवान् अपने हृदय के प्रेम को पाने की कुंजी, चाबी अर्जुन को दे रहे हैं। वे बार-बार बता रहे हैं जो-जो इन लक्षणों से युक्त है वह मेरा प्रेम पाने का अधिकारी है। उसके पीछे-पीछे स्वयं भगवान् डोलते हैं। जहाँ-जहाँ भक्त जाता है उसके पीछे-पीछे भगवान् चलते हैं। सूरदासजी जा रहे थे और कुएं में गिर गये। तो उनके पीछे-पीछे भगवान् चलते थे। कुआं सूखा था और गहरा नहीं था। उन्होंने तुरन्त सूरदासजी को कुएं से हाथ पकड़कर निकाल दिया। सूरदासजी समझ गये ये तो इष्टदेव कन्हैया हैं। कन्हैया बहाना बनाकर हाथ छुड़ाकर जाना चाहते थे। पर सूरदास अपने इष्ट को पाकर कैसे छोड़ सकते थे। वे तो और भी कसकर पकड़ने लगे। पर भगवान् को कोई पकड़कर रख सकता है? वे हाथ छुड़ाकर चल दिये। तो सूरदासजी ने व्यंग्य कस दिया—

हाथ छुड़ाए जात हो निबल जानकर मोहिं।
हिरदै से जब जाओगे मरद बदौंगो तोहिं।।

मुझे शरीर से दुर्बल जानकर हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, हृदय से जाओ तो मर्द जानूँ। तो यहाँ भगवान् स्वयं ही अपनी प्रियता का, प्रेम पाने का रहस्य बता रहे हैं, जिससे साधक का काम बहुत हलका हो जाता है। साधक को जानकारी हो गयी जिसको रिझाना है, मनाना है वह कैसे रीझेंगे, कैसे मानेंगे। बहुत से ऐसे व्यक्ति (मालिक) होते हैं जो कैसे प्रसन्न होंगे, रीझेंगे यह समझ पाना ही कठिन होता है। तो उनको मनाना जटिल समस्या बन जाती है। यहाँ तो भगवान् स्वयं ही अपने मुख से अपने अन्तर् का रहस्य खोल रहे हैं—

अनपेक्षः किसी से कोई अपेक्षा नहीं। विवेकी पुरुष कहता है—नेकी कर, कुएं में डाल, अर्थात् नेकी करके उसे भूल जा। किसी से कुछ अपेक्षा न कर। चाह गई चिन्ता मिटी मनवा बेपरवाह। जिनको कुछ नहीं चाहिये वह शाहन के शाह।।

आशाया ये दासा ते दासा सर्वलोकस्य।
येषां आशादासी तेषाम दासयते लोकाः।।

जो आशा के दास हैं, अपेक्षा के दास हैं कि यह मिल जाय वह मिल जाय। अरे भाई, इसको ऐसा बोलेंगे तो यह नाराज हो जायगा, तो यह नहीं देगा। लो अब किसी के सामने सच बोल ही नहीं सकते, नाराज हो जायेगा क्योंकि उससे अपेक्षा है। जो आशा के दास हैं, वे सारी दुनिया के दास हैं। और जिनकी दासी आशा है, अपेक्षा है सारा संसार उसका दास है। स्वामी रामतीर्थजी कहते हैं जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है उन्होंने सारे संसार को जीत लिया है। और वे ही हैं शाहन के शाह। सन्त कुम्भनदास ने मुगल शासक से राजकीय निमन्त्रण प्राप्त होने पर कहा था—

भक्तन को कहाँ सीकरी सो काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।
जिन मुख देखो अध लागे ताको करन पड़ी परनाम।

किसी से कोई माँगने तब जाता जब हृदय का अंधा हो जाता है। वो क्या देगा? देने वाला तो राम है। तो दूसरे से अपेक्षा करना, ही-ही करके दाँत निकालने से क्या लाभ? देना होगा तो रामजी देंगे, नहीं देना होगा रामजी नहीं देंगे। ये किस खेत की मूली हैं जिसके आगे हम दाँत निपोरें। संसार के सामने अनपेक्ष।

शुचि—जो पवित्र है। बाहर और भीतर दोनों तरफ से शुचि।

ॐ अपवित्र पवित्रों वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकांक्ष स बाह्याभ्यन्तर शुचिः।।

पवित्र हो (स्नान आदि से) या अपवित्र हो, अथवा किसी भी अवस्था में हो जो भगवान् कमलनयन विष्णु का स्मरण कर लेता है वह बाहर से व अन्दर से पवित्र हो जाता है।

दो प्रकार की संस्कृतियाँ हैं—एक है हिरण्याक्ष संस्कृति और एक है पुण्डरीकांक्ष संस्कृति। पुराने समय से आज तक हिरण्याक्ष संस्कृति हावी है। हिरण्याक्ष संस्कृति क्या हुई? जिसकी आँख सोने पर लगी हुई है, सोने की आँख सोने पर लगी हुई आँख। मुझको ज्यादा से ज्यादा सोना मिले, लूटो, खसोटो, दूसरे को जलाओ, दुःख दो यह आसुरी बुद्धि है। यह देहात्म-बुद्धि है। विरोचन और इन्द्र दोनों प्रजापति के पास गये। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि हमें आत्मतत्त्व का उपदेश करो। उन्होंने कहा—जल में जाकर देखो। जल में देखा

विरोचन एवं इन्द्र ने उन्हें अपना शरीर दिखा। यह शरीर ही आत्मा है, बोला समझ गया और चला गया विरोचन। इन्द्र ने देखा—उसने कहा, नहीं यह तो आत्मा नहीं है। महाराज! यह तो नहीं है। तो उन्होंने कहा, 100 वर्ष तक तपस्या करो तब उन्होंने आत्मा का उपदेश दिया। जो आत्मबुद्धि प्रधान है वह पुण्डरीकांक्ष। जो बाह्याभ्यन्तर शुचिता की बात करते हैं बाहर से भी पवित्र और भीतर से भी पवित्र। मनुस्मृति में एक अद्‌भुत श्लोक है, इसका भाव है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचहि स शुचिन मृद्रारिशुचिः शुचिः।।5/106

सब प्रकार की शुचिताओं में, सब प्रकार की पवित्रताओं में अर्थशुचिता सबसे बड़ी है। जो आर्थिक मामले में पवित्र है वह पवित्र है। मिट्टी से हाथ धोने में कोई पवित्र नहीं हो जाता है। तो जो बाह्याभ्यन्तर शुचिता की संस्कृति है वह आत्मा की संस्कृति है वह पुण्डरीकांक्ष संस्कृति। पुण्डरीक माने कमल जैसे नेत्र। कमल जो जल में रहकर भी पद्मपत्रमिवाम्भसा जो माया से अनासक्त, निर्लिप्त जो बाह्याभ्यन्तर शुचिता पर बल देने वाली संस्कृति वह पुण्डरीकांक्ष संस्कृति। जो अपने शरीर को साध्य मानने वाली—देहात्मबुद्धि वाली, शरीर को खिलाओ, पिलाओ, चिकना बनाओ, रंगो, सुलाओ, पहनाओ। नारायण सारा काम शरीर के लिये करो, सारे संसार का शोषण करो यह हिरण्याक्ष संस्कृति है। तो हिरण्याक्ष के अपर पुण्डरीकांक्ष संस्कृति है जो अन्तर और बाहर की शुचिता को सम्पादित करने वाली है। शुचि माने पवित्र करो। पुण्डरीकाक्ष का स्मरण करके हम भीतर-बाहर से शुचि होते हैं।

दक्ष—भक्त बुद्धू नहीं होता। दक्ष माने अपने नियत कर्तव्य को, प्राप्त कर्तव्य कर्म को करने में समर्थ होता है। जो सहज प्राप्त कर्तव्य कर्म है उसे व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक सम्पादित करने में समर्थ होता है। इस विषय में चतुर होता है।

उदासीन—आसीन माने बैठा हुआ, उत माने उपर। उदासीन माने जो संसार के प्रवाह से ऊपर बैठा हुआ है। भक्त संसार के प्रवाह में प्रवाह पतित काष्ठ तिनके की तरह नहीं बहता। साधारणजन इस संसार के प्रवाह में बह जाते हैं। जिधर भी प्रवाह चलता है उधर ही लुढ़क जाते हैं। रूस की हवा चली तो रूस की ओर बह गये, अमेरिका की हवा चली तो अमेरिका की ओर बह गये। पूँजीवाद की हवा चली तो उसमें बह गये, साम्यवाद की हवा तो उसमें बह गये। भक्त प्रवाह पतित तिनका नहीं है। वह संसार के प्रवाह से ऊपर उठ गया है, वह प्रवाह को देख रहा है, वह उसका निर्लिप्त द्रष्टा है। वह संसार का तमाशा नहीं बनता। वह संसार का तमाशा देखता है। वह संसार के खेल को देखता है। संसार का खेल चल रहा है और चले। राम झरोखे बैठ सबकी मुजरा लेते। वह संसार रूपी नाटक का दृश्य नहीं बनता वह द्रष्टा होता है, साक्षी होता है। पर सामान्य मनुष्य स्वयं

संसार का तमाशा बन जाता है। पर भक्त संसार के तमाशे को, नाटक को निर्लिप्त भाव से, तटस्थ भाव से, निष्पक्ष भाव से देखता है। वह तो असार संसार से सार ग्रहण करता है। अनृत संसार से नित्य को पकड़ लेता है यही मनीषियों की मनीषा है। वह चाकचिक्य भरे संसार में रहकर संसार से युक्त नहीं होकर, भगवान् के साथ युक्त होता है। यही उसकी कुशलता है। यह बुद्धि ही मानव की यथार्थ बुद्धि है। यही मनीषियों की मनीषा है।

भगवान् कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं भागवत में कि यही बुद्धिमानों की बुद्धि है, मनीषियों की मनीषा है कि वह अनृत संसार से, असार संसार से मुझ सत्य को पा लेता है। इस मर्त्य संसार से मुझ अमृत को पा लेता है। यही बुद्धिमानों की बुद्धि है, मनीषियों की मनीषा है। यही दक्षता, यही कुशलता है। इस अनित्य एवं मर्त्य संसार से मुझ नित्य एवं अमृत को वह पा लेता है। इस प्रकार भक्त संसार रूपी नाटक का निर्लिप्त द्रष्टा होता है और उससे सार, सत्य को ग्रहण करने वाला होता है।

गतव्यथः—उसको किसी प्रकार की व्यथा नहीं होती है। इस बात को समझें व्यथा क्यों होती है? जिसको हम अपना समझते हैं, जब वह अपने से अलग हो जाता है, तब व्यथा होती है। जो अपना प्रिय है, उसकी मृत्यु पर व्यथा होती है। जो अपनी वस्तु है छूट जाय तो व्यथा होती है। मान की जगह अपमान हो जाय तो व्यथा होती है। भक्त कहता है मेरा कुछ है ही नहीं सब भगवान् का है। भगवान् ने किसी को अपने पास बुला लिया तो मुझको व्यथा क्यों होगी? भगवान् की सब चीजें हैं। उसने एक आदमी के पास से दूसरे आदमी के पास उठाकर रख दी तो मुझे व्यथा क्यों होगी? उसने तो मुझे केवल न्यासी बनाकर रखा था। वह चीज तो उसी की थी। जब तक मेरे पास थी तब तक मैंने सदुपयोग करने का प्रयास किया। इसलिये वह सब प्रकार की व्यथा से मुक्त होता है। उसके पास दुःख के अवसर तो आते हैं पर वह अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाते। दुःख लकीर खींच नहीं पाता। पत्थर में जो लकीर खींची जाती है, वह स्थायी होती है। रेत में जो लकीर खींची जाती है, वह कुछ काल तक रहती है, हवा का झोंका आते ही पट जाती है। जल में लकीर खींचने की भ्रान्ति हो सकती है और अग्नि, वायु, आकाश में तो भ्रान्ति की लीला भी नहीं हो सकती है। सामान्य व्यक्तियों के लिये लकीर पत्थर पर खींचने के समान होती है, प्रारम्भिक साधक के लिये लकीर रेत में खींचने के समान होती है। ऊँचे साधक के लिये जल में खींचने के समान होती है। वह अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाती है। गाँधीजी कहते हैं मेरा जीवन बाह्य संकटों से घिरा है फिर भी वे मेरे जीवन में कोई दाग या स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सके इसका एकमात्र श्रेय किसी को है तो वह गीता की शिक्षा को जाता है।

दु:ख के प्रसंग आते हैं, चले जाते हैं। वह मानता है कि प्रसंग आयेंगे चले जायेंगे। आगमापायी है, अतः वह उनको सह लेता है। सुख-दु:ख आने-जाने वाले हैं अतः सहन कर। गीता 12/16

सर्वारम्भपरित्यागी का अर्थ कई लोग यह करते हैं कि जो किसी नवीन कार्य का आरम्भ नहीं करता, पुरानी प्रथाओं-परंपराओं का ही जो अनुयायी है—वह मेरा प्रिय है। ऐसा अर्थ करने वाले पुरातन का दास बने रहना उचित समझते हैं। वे कहते हैं कि गीता ने सब नवीन आरम्भों, नवीन विचारों New Movements का खण्डन किया है। सर्वारम्भपरित्यागी का यह अर्थ नहीं है। सर्वारम्भ परित्याग का अर्थ कर्म मात्र का परित्याग भी नहीं। क्योंकि कर्म मात्र बंधन कारक है दोष युक्त है जैसे अग्नि में धुआं। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि यहाँ सकाम कर्म का निषेध किया गया है। इसका यह अर्थ है कि जो सब आरम्भों को, कार्यों को अपना किया हुआ नहीं समझता है। वह भगवान् को ही प्रेरक समझता है, भगवान् द्वारा ही कराया गया समझता है। स्वयं को निमित्त मात्र, यंत्र मात्र समझता है। वह अपने अहं को, अहंकार को प्रश्रय न देकर भगवान् को ही सबका श्रेय देता है। वह भगवान् को ही सब 'आरम्भों' का मूल कारण समझता है, वह मेरा प्रिय है। गीता के हर स्थल को गीता के मूल विचारों की पृष्ठभूमि में ही समझना चाहिये। गीता की पृष्ठ भूमि है—अहंकार का त्याग, अपने को फल से अलग करना, निष्कामता—इस पृष्ठभूमि में सर्वारंभ परित्यागी कहा है। अपने को निमित्त समझना, यंत्र समझना यह साधक भक्त का लक्षण है और सिद्ध भक्त तो अपने जीवन में कोई संकल्प ही नहीं करता, रामकृष्ण देव का जीवन इसका उदाहरण है। कोई संकल्प उन्होंने किया ही नहीं। कोई संकल्प नहीं। जैसा होता गया मां जैसा जुगाड़ करती गयी तो उसी प्रकार घटता गया।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः। 12/17

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है तथा जो शुभ और अशुभ (समस्त कर्मों) का त्यागी है—वह भक्तिमान्य मनुष्य मुझे प्रिय है।

इसमें केन्द्रीय विचार कामना है। कामना के ही सब परिणाम हैं—हर्ष, द्वेष, शोक, शुभ कर्म-अशुभ कर्म।

आकांक्षा या तृष्णा ही कामना कहलाती है। यही समस्त मानसिक विकारों या विक्षेपों का मूल कारण है। आकांक्षा की पूर्ति से हर्ष होता है। आकांक्षा की अपूर्ति से या विपरीत फल से शोक होता है। आकांक्षा की पूर्ति में जो बाधक बनता है उसके प्रति द्वेष होता है। कामना के कारण ही शुभ एवं अशुभ कर्म होते हैं।

योो न हृष्यति तो भक्त जो होता है, वह कामना की पूर्ति से हर्षित नहीं होता है। किसी उपलब्धि से हम हर्षित होते हैं उसका अहंकार भी आ जाता है। पर जो भक्त है, वह बड़ी से बड़ी वस्तु प्राप्त करने के बाद भी हर्षातिरेक से ग्रसित नहीं होता। और कोई हमारी उपलब्धि में बाधक बनता है तो उससे द्वेष भी नहीं करता। 'न द्वेष्टि'। क्यों द्वेष करना जब सब रामजी के हैं। रामजी ने जिसको दिया बहुत ठीक किया। क्या रामजी गलत करते हैं?

उससे होय नहीं कछु बुरा। और कहो किने कछु करा।।

गुरु नानकदेवजी की वाणी है—उससे होय नहीं कछु बुरा। रामजी से कुछ बुरा काम हो सकता है? रामजी से कोई बुरा काम हो ही नहीं सकता। उससे होय नहीं कछु बुरा। और कहो किने कछु करा। और बताओ कौन करने वाला है। करने वाला तो वही है एकमात्र। तो फिर किससे द्वेष। न शोचति—और भक्त को अपने कर्तव्य कर्म के कारण विपरीत फल मिलता है तो वह शोक ग्रस्त नहीं होता। मीरा बाई को ईश भक्ति के कारण विष का प्याला मिलता है तो वह भगवान् का चरणामृत समझकर सहर्ष स्वीकार लेती है, प्रह्लाद को नानाविध कष्ट मिलते हैं तो सहर्ष स्वीकार लेता है, सिक्ख गुरुओं को हिन्दू धर्म में अडिग रहने पर कठोर यातना के द्वारा मृत्यु दण्ड मिलता है तो स्वीकार लेते हैं। भगतसिंह को, खुदीराम बोस को फाँसी मिलती है तो स्वीकार लेते हैं। किसी के लिये शोक नहीं।

शोक का एक कारण यह भी होता 'ऐसा क्यों हो गया' उसके लिए दुःखी होते हैं। अतीत में हुए अनिष्ट के लिये दुःखी होते रहते हैं—हाय मेरे पास यह-यह था, सब चला गया। उसको याद कर-कर के दुःखी होते रहते हैं। भक्त विचारता है जो होना था हो चुका। जो होगा सो हो। वर्तमान क्षण काम का है। इसको वृथा न गंवाओ। वर्तमान क्षण काम का है। देखो अतीत हमारे हाथ में नहीं है। अतीत को हम बदल नहीं सकते। भविष्य भी हमारे हाथ में नहीं है। भगवान् के हाथ में है। यह जो क्षण हमको मिला है। वर्तमान क्षण काम का है। वर्तमान के क्षण को वृथा न खोयें। यह क्षण व्यर्थ न चला जाय। हमारा करणीय कर्तव्य इतना ही है। शोक करना व्यर्थ। भय करना व्यर्थ। अरे! जो होना था सो हो चुका और जो होगा सो, हो। वर्तमान क्षण काम का है इसको वृथा न खोओ।

'न काङ्क्षति'—भक्त कोई कामना नहीं करता। भक्त के लिये तो भगवान् ही सर्वस्व हैं। उसको और क्या चाहिये। जिस भक्त को भगवान् के अतिरिक्त कुछ और चाहिये वह अभागा है।

शुभाशुभ परित्यागी—कामना के फलस्वरूप शुभ कर्म होंगे या अशुभ कर्म। शुभ करने से पुण्य होता है। स्वर्ग मिलता है फिर बाँधेगा वह भी। पुण्य कर्म सोने की शृंखल से बाँधते हैं और पाप कर्म लोहे की शृंखल से बाँधते हैं। बाँधते हैं वह भी।

तो भक्त पाप-पुण्य दोनों से ऊपर उठेगा। तब वह कर्म के बंधन से मुक्त होगा। वह अपने शुभ कर्म में भी, अशुभ कर्म में भी कर्ता की हैसियत को त्याग देता है। शुभ और अशुभ तब लगता है जब कर्तृत्व बुद्धि होती है। आपके रास्ते पर चलने से पैर के नीचे आकर कोई चींटी मर गयी तो आपको उसका पाप नहीं लगेगा और आप को देखकर कोई दुष्ट दुष्टता छोड़कर भाग खड़ा होता है तो उसका पुण्य आपको नहीं मिलेगा। क्योंकि न चींटी के मारने में आपकी कर्तृत्व-बुद्धि थी और न दुष्ट को भगाने में आपकी कर्तृत्व बुद्धि थी। पाप-पुण्य कर्तृत्व-बुद्धि के कारण होते हैं। शुभ-अशुभ तब होता है जब आपकी कर्तृत्व बुद्धि हो। तो शुभ करेंगे तो पुण्य मिलेगा, पुण्य मिलेगा तब स्वर्ग मिलेगा। भगवान् से बड़ा है स्वर्ग। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' (गीता 18/66) का मतलब यही है भगवान् को हमने पकड़ लिया और हमको कुछ नहीं चाहिये। ऐसा जो भक्त है वह मुझको पाता है, वह मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।। 18

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 19

जो शत्रु मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा शीत-उष्ण और सुख-दुःख में सम है तथा आसक्ति से रहित है, जो निन्दा और स्तुति को समान मानने वाला है, मौनी (वाणी में संयत, मननशील) और जिस किसी भी प्रकार जीवन निर्वाह हो जाय उसी में सन्तुष्ट है तथा निवास-स्थान में आसक्ति नहीं रखता— ऐसा स्थिर बुद्धि, भक्तिमान्य पुरुष मुझे प्रिय है।

इन दोनों श्लोकों में समत्व की महिमा को बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में समत्व है। गीता में योग की तीन परिभाषाएँ दी गई हैं उसमें से एक है—'**समत्वंयोग उच्यते**' 2/48 समत्व जो है वही योग है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मयणि ते स्थिताः।। 5/19

जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उन्होंने यहीं इसी जन्म में, अपनी जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया है। चूँकि परब्रह्म (सभी) दोषों से रहित और (सबमें) समान है, इसलिये वे (समदर्शी पुरुष) ब्रह्म में ही अवस्थित हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। 9/29

मैं सब प्राणियों में सम हूँ। मेरा न कोई (द्वेष्य) है और न (कोई) प्रिय है।

यह भगवान् की उक्ति है। सम वास्तव में कौन है? भगवान् हैं। 'समोऽहं सर्वभूतेषु' भगवान् हैं। तो समत्व को प्राप्त करना माने भगवान् की प्राप्ति करना

है। यह जो समत्व प्राप्त कर लेने की बात है यह गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में से एक है।

कर्मयोग के सन्दर्भ में स्वधर्म पालन के लिये समत्व को सबसे बड़ा योग बताया है।

'**समत्वंयोग उच्यते**' 2/48 इसके अभाव में स्वधर्म का पालन सम्भव नहीं है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूतियां होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिये यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों में कर्तव्य-परायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाये रखे। राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फानी चोटी में मन को सम रखकर ही कर्तव्य पालन हो सकता है तभी कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। महलों के राजसी भोग और जंगलों की घास की रोटी दोनों में सम रहकर ही मेवाड़ की स्वाधीनता की लड़ाई चालू रख सकता है, तभी सच्चा कर्मयोगी है। अनुकूल का कर्मी और प्रतिकूल में कामचोर सच्चा कर्तव्यपरायण नहीं हो सकता। स्वधर्म पालन नहीं कर सकता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत। 2/14
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। 2/15

अतः तितिक्षु सम दुःख सुखं धीरं ही सच्चा कर्मयोगी बन सकता है, अपना स्वधर्म पालन कर सकता है।

अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल की प्रतीति से दुःख होता है। लोभ से मनुष्य को उसी लाभ को पुनः-पुनः प्राप्त करने का लोभ बढ़ता है, हानि से कर्म में निराशा आ जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है। पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना पड़ता है, तभी वह स्वधर्म पालन कर सकता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि। 2/38

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार (युद्ध करने से) तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

इस प्रकार बिना समत्व में स्थित हुए हम स्वधर्म का पालन नहीं कर सकते, कर्मयोगी नहीं बन सकते।

वैसे ही बिना समत्व के हम सच्चे भक्त भी नहीं बन सकते और न ही भगवान् के प्रिय ही हो सकते हैं।

समत्व को हृदयंगम करने के लिये कुछ बातों को समझ लेना आवश्यक है—

सृष्टि का मूल विषमता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इन तीनों गुणों में जब वैषम्य उपस्थित होता है तब सृष्टि होती है। विषमता पर्यन्त ही सृष्टि का अस्तित्व है। तीनों गुणों की साम्यवस्था में सृष्टि सम्भव नहीं। जब कोई अपने अन्दर तीनों गुणों में समता स्थापित कर लेता है तब मुक्त हो जाता है। अतः निरी भौतिकता के आधार पर मार्क्सवाद के आधार पर कभी भी समता स्थापित नहीं हो सकती है। क्योंकि सृष्टि का मूल बीज ही विषमता है। सबका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक विकास का स्तर अलग-अलग है। आत्मा के आधार पर ही समता स्थापित हो सकती है। आत्मभाव को धर्म ही जागृत करता है और जैसे-जैसे आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार होता जाता वैसे-वैसे इसमें त्याग की भावना बलवती होती है। तभी हम अपनी योग्यतानुसार कार्य करते हैं। और आवश्यकतानुसार समाज से ग्रहण करते हैं जैसा कि पारिवारिक जीवन में, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में एवं संन्यासी के जीवन में होता है। अतः समता आत्मा के आधार पर, गीता व उपनिषद्, वेदान्त के आधार पर ही हो सकती है। मार्क्सवाद के अनुसार जो समता लाने का प्रयास करते हैं, उसका हाल रूस जैसा होने के लिये बाध्य है।

संसार में मीठा-मीठा हब और कड़वा-कड़वा थू-थू यह नहीं चल सकता। सृष्टि में द्वन्द्व सदैव जोड़े के रूप में रहते हैं। केवल सुख या केवल दुःख, या केवल संयोग या केवल वियोग नहीं रह सकता। शीत-उष्ण, संयोग-वियोग सदैव जोड़े के रूप में रहता है। सृष्टि पर्यन्त द्वन्द्व बने ही रहते हैं।

सृष्टि का चक्र प्रकृति के नियमों के अनुसार भूगोल के नियम के अनुसार घूमता है, आप-हम की इच्छानुसार नहीं। ऋतु चक्र के अनुसार सर्दी-गर्मी, वर्षा आयेगी ही। सृष्टि को हम अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता या मन के अनुसार नहीं चला सकते पर उसके अनुकूल स्वयं को ढालकर उसके दुःखपूर्ण प्रभावों से बच सकते हैं। हम संसार के सारे कांटों को दूर नहीं कर सकते पर स्वयं के पैर में जूता डालकर उनसे बच सकते हैं। वैसे प्रकृति चक्र के द्वन्द्वों से बचने का उपाय गीता बताती है—विवेकपूर्वक सहन करना।

न तो साधनों का अम्बार लगाकर इसे जीता जा सकता है और न विज्ञान की सहायता से प्रकृति को इतना पालतू ही बनाया जा सकता है कि वह पग-पग में हमारी आज्ञाओं का पालन करे। और जिसने साधनों का अम्बार लगाकर प्रकृति को जीतने का प्रयास किया है तो उन्हें शेष जीवन में उसका परिणाम भोगना पड़ता है। जिसने घर, ऑफिस, गाड़ी को Air Condition बना लिया बाद में डॉक्टर कहता है सूर्य का प्रकाश शरीर पर डालो। जो जीवन भर पैदल नहीं चलते हैं उन्हें शेष जीवन में स्वस्थ रहने के लिये डॉ. पैदल चलने की सलाह देता है।

जब तक देह है तब तक इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग होगा ही। इसे कोई रोक नहीं सकता। आँखें हैं तो देखेंगी ही, कान हैं तो सुनेंगे ही, नाक है तो गंध लेगी ही, शरीर है तो भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी समय पर काम विकार उत्पन्न होगा ही और अगर नहीं होता है तो अस्वस्थता है। उसके लिये हम डॉक्टर की शरण लेते हैं।

सहिष्णुता की सीमा के अन्दर विषय से इन्द्रिय का संयोग सुखद एवं सीमा का अतिक्रमण करने से प्राप्त विषय का संयोग दुःखद हो जाता है। जैसे सहिष्णुता की सीमा के अन्दर उष्णता प्राप्त हो तो सुखप्रद अन्यथा दुःखद। सहिष्णुता की सीमा में भोजन, जल, अग्नि, वायु जीवन है, अन्यथा दुःखद एवं मृत्यु का कारण भी बन सकते हैं।

एक ही विषय एक परिस्थिति में सुखदायी है तो दूसरी परिस्थिति में वही कष्टदायक बन जाता है। जैसे सिनेमा हॉल में पीछे बैठना सुखदायी है एवं नाटक में आगे।

मन की एक वृत्ति में जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति से सुख मिलता है वहीं मन की वृत्ति बदल जाने से उसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति घृणा या दुःख की अनुभूति होती है।

द्वन्द्व भी मूलतः दो प्रकार के हैं—

एक तो माँ के गर्भ से ही जन्म से ही लेकर उत्पन्न होते हैं जैसे—भूख प्यास, सर्दी-गर्मी और यह जीवन पर्यन्त रहने वाले हैं। इसका निवारण यथायोग्य आहार-विहार-वस्त्र के द्वारा करें एवं थोड़ा सहने का अभ्यास भी आवश्यक है।

कुछ द्वन्द्व शरीर के विकास, मन व बुद्धि के विकास से उत्पन्न होते हैं यथा वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा। इसका निवारण शास्त्र की, धर्म की मर्यादा में रहते हुए उसकी पूर्ति कर करें और फिर उससे ऊपर उठ जायें।

और कुछ द्वन्द्व अविवेक के कारण उत्पन्न होते हैं उसे विवेक का स्तर बढ़ाकर उस पर नियन्त्रण पा सकते हैं। अब श्लोक देखें—

'समः शत्रौ च मित्रे च'

जिसके प्रति बार-बार राग होता है उसे मित्र कहते हैं। जिसके प्रति बार-बार द्वेष भाव उत्पन्न होता है उसे शत्रु कहते हैं। राग और द्वेष भाव जब स्थायी हो जाता है तो यह शत्रु-मित्र भाव बन जाता है। जब कोई व्यक्तिविशेष बार-बार भूल करता है तो हमें लगने लगता है वह तो हमारा शत्रु है। और जब कोई बार-बार अपना सहयोग करता है, सहानुभूति दिखलाता है, हमें स्नेह से चिकना कर देता है तो हम समझने लगते हैं वह हमारा मित्र है। और जो हमारे प्रति बार-बार भूल करता है सताता है, जलाता है तो उसे हम शत्रु समझने लगते हैं।

शत्रु-मित्र में सम रहना है। क्योंकि भगवान् के अलावा तो किसी की स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। सम परमात्मा ही शत्रु-मित्र के रूप से प्रतीत हो रहा है। यथा अभिनय के मंच पर अपने ही साथी कभी मित्र बन तो कभी शत्रु बनकर, कभी कृष्ण तो कभी दुर्योधन बनकर आते हैं।

ईश्वर के घर से कोई शत्रु मित्र बनकर नहीं आता। यह सब मनोमय है। एक मांसपिण्ड नारी शरीर है। उसमें किसी के प्रति मातृ बुद्धि, किसी के प्रति भगिनी बुद्धि, किसी के प्रति पुत्री बुद्धि तो किसी के प्रति स्त्री बुद्धि होती है। ये सब मनोमय हैं। भगवान् के घर में एक ही स्त्री है। पर हमारे मनोभावों के अनुसार वही अनेक रूपों में प्रतीत होती है। अर्थात् भावना के अनुसार किसी को माँ तो किसी को पत्नी तो किसी को बहिन तो किसी को पुत्री के रूप में देखते हैं।

जैसे स्वप्न में अपनी वासना ही तो शत्रु मित्र बनकर आती है। आत्मा अधिष्ठित मनोवासना ही शत्रु-मित्र बनकर आता है। यह मन का चमत्कार है, करिश्मा है। ईश्वर के घर से कोई शत्रु-मित्र बनकर नहीं आते। मनोभाव को लेकर ये सम्बन्ध बन जाते हैं।

रज्जु में सर्प कल्पित है वैसे ही सुनहरी माला, भूछिद्र आदि कल्पित हैं। वैसे ही ईश्वर में मित्र भी कल्पित है और शत्रु भी कल्पित है। न कोई मित्र न कोई शत्रु। या तो दोनों ही मिथ्या हैं या दोनों ही परमात्मा हैं। अतः उनसे निर्लिप्त रहे।

शत्रु भी परमात्मा ही बनकर आये। क्योंकि उसके अलावा कोई दूसरा है ही नहीं। और परमात्मा कभी किसी का अमंगल कर नहीं सकता। दृष्टान्त अर्जुन-कृष्ण-सर्प गले के रक्त का प्रारब्ध। अतः भगवान् ने अपने हाथ से रक्त दिया। तो इसमें अर्जुन का हित हुआ या अहित?

पर यहाँ भी यथार्थ व्यावहारिकता का बोध बना रहना चाहिये। अन्यथा सद्गुण भूषण के स्थान पर सद्गुण दूषण न बन जाये। इसलिये व्यक्तिगत शत्रु एवं राष्ट्रीय शत्रु में अन्तर कर लेना चाहिये।

भगवान् ने गीता में जीवों का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि हम सब तात्त्विक रूप से आत्मस्वरूप अजर अमर अविनाशी हैं। आत्मा की अमरता का प्रतिपादन के तुरंत बाद स्वधर्म की महिमा बताते हुए यह प्रतिपादित किया कि सभी तत्त्वतः अमर-अविनाशी होने के बाद भी लोक मर्यादा की रक्षा के लिये, समाज की व्यवस्था को बनाये रखने के लिये दुष्ट दलन करना, वध करना क्षत्रिय का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

अतः यह ठीक है कि तात्त्विक दृष्टि से सब आत्मस्वरूप ही हैं पर व्यवहार में लोक मर्यादा की रक्षा के लिये, समाज की सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये, दुष्टों की दुष्टता का दमन आवश्यक है। वह दुष्टों के प्रति व्यक्तिगत रूप से द्वेष या शत्रुता-बुद्धि नहीं रखता, पर लोक मर्यादा के लिये एवं स्वयं उसकी भलाई के लिये उसकी दुष्टता का उसे दण्ड दे सकता है, पर उसके प्रति वैरभाव पोषण नहीं करता। वैर भाव होने पर द्वेष बुद्धि आ जाती है और अपराध की तुलना में अधिक दण्ड दे देते हैं। वैर बुद्धि एवं द्वेष दोनों ही अभीष्ट नहीं है स्वधर्म पालन में। वैर भाव होने पर अपना मन भी कलुषित होता है। जैसे श्रीराम ने, कृष्ण ने, वीर शिवाजी ने दुष्टों का दलन किया। राम ने रावण को दण्ड दिया पर शिक्षा के लिये लक्ष्मण को और अन्तिम संस्कार के लिये विभीषण को भेजा। दुष्टों की मृत्यु के पश्चात् उससे शत्रुता नहीं मानते हैं। अतः न उसकी मृत देह को और न उसके परिवार को लांछित या कोप का भाजन नहीं बनाते। कृष्ण ने कंस का वध किया उसके पिता को ही गद्दी पर बैठाया। जरासंध को दण्डित किया पर उसके पुत्र को ही गद्दी पर आसीन किया। पर यह उदारता सेमिटिक परम्परा में, ईसाइयत में या पश्चिम में या कम्युनिस्ट देशों में नहीं है। ईसाई अपने विरोधियों की कब्रों को खोद-खोद कर उसके अस्थि पंजर को फाँसी पर चढ़ाने का कार्य करते रहे हैं। अभी-अभी रूस में आपने देखा है लेनिन को कब्र से निकालकर उसको फाँसी पर चढ़ाया गया।

अपने अध्यात्मिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि सबको हम अपना आत्मस्वरूप समझें। क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त तो किसी की स्वतन्त्र सत्ता है नहीं। किसी का दोष न देखें। दोष नहीं देखेंगे तो शत्रुता-बुद्धि कहाँ से आयेगी। किसी का दोष मत देखना। दोष देखना है तो अपना देखें। पर प्रश्न उठता है यदि हम किसी के दोष नहीं देखें, तो काम कैसे चलेगा? व्यक्ति गलती करेगा और यदि हम उसका दोष बतायेंगे, तब तो दोष देखना हो गया। और नहीं बतायेंगे तो उससे दुनिया कैसे चलेगी?

यह सार्थक प्रश्न है। यदि हम दोष न देखें तो सुधार कैसे होगा? यदि माता-पिता अपने बच्चों का दोष न देखें, तब बच्चे कैसे सुधरेंगे? यदि मैं अपने मातहत, अपने काम करने वालों का दोष न देखूँ तो उसको सुधारूँगा कैसे? यदि शिक्षक

विद्यार्थी का दोष न देखे, तो विद्यार्थी आगे बढ़ेगा कैसे? बिना दोष-दर्शन के दोषों को सुधारने का कोई उपाय नहीं। तब यह जो कहा जाता है कि दूसरों का दोष न देखो इसका क्या मतलब?

बात यह है कि दोष देखना भी दो प्रकार का है। एक प्रकार वह है जिसमें दोष देखकर हम व्यक्ति की निन्दा करते हैं, उस पर हँसते हैं। ऐसा दोष देखने में हमें रस मिलता है। हम चटखारा लेकर दूसरे के दोषों की चर्चा करते हैं। दूसरा प्रकार वह है, जिसे हम चिकित्सक की दृष्टि कहते हैं। चिकित्सक भी रोगी का दोष देखता है, पर हँसने के लिये नहीं। वह दोष को दूर करना चाहता है। दोषों को देखकर उसे हँसी नहीं आती, न ही दोषों का प्रचार करने में उसे रस मिलता है। वह भी बहुत बारीकी से दोष देखता है, पर उसके निदान करने के लिये। जिस दोष दर्शन की निन्दा की जाती है, वह पहले प्रकार का है।

तो उचित और अनुचित दोष-दर्शन की मोटी कसौटी यह है कि जब हम व्यक्ति का हित करने के लिये उसके दोषों को देखते हैं, तो वह उचित है। इसके पीछे हमारी अभिप्राय यही रहता है कि दोषों को बता देने से व्यक्ति अपने को सुधारने की चेष्टा करेगा। पर जहां दोष-दर्शन के पीछे व्यक्ति के अहित का भाव हो, वह अनुचित है। ऐसे दोष दर्शन से हमें बचना चाहिये। और इसलिये ही नहीं कि उससे हम व्यक्ति का अकल्याण करते हैं। बल्कि इसलिये भी कि ऐसा करके हम स्वयं अपना अकल्याण करते हैं।

तथा मानापमानयो—

सामान्यतः मान को हम लोग बहुत महत्त्व देते हैं। और जो समाज का कर्म करता है उनको एक श्लोक बहुत प्रभावित करता है। बड़ा श्रेष्ठ श्लोक है—

अधमाः धनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमाः मानमिच्छन्ति, मानोहि महतां धनम्।।

जो अधम लोग हैं वह केवल धन चाहते हैं। मध्यम श्रेणी के जो हैं वे धन और मान दोनों चाहते हैं, जो उत्तम कोटि के लोग हैं वे मान चाहते है। उत्तम कोटि का धन मान ही है।

पर जो अपना अध्यात्मिक विकास चाहते हैं, भगवान् के भक्त हैं उनके लिये यह भी ठीक नहीं है। अष्टावक्र गीता में है—

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्।
मानं चैव सुरा पानं त्र्ययं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

साधक की दृष्टि यह होनी चाहिये उसका जीवन एवं आचरण अपमान योग्य नहीं हो पर अपमान को अमृत समझे उसका जीवन तो सम्मान के योग्य हो पर

वह सम्मान को विष समझे। व्यवहार में अपमान को अपमान न माने वह निर्लज्ज कहलाते हैं। इसलिये साधक का जीवन तो सम्मान योग्य होना चाहिये फिर भी सम्मान को विष के तुल्य समझे और अपमान को अमृत समझे। वही देश-समाज के लिये भी कुछ कर सकता है और अपना अध्यात्मिक-विकास भी।

मान से बचना चाहिये। मान प्राप्त होने का अर्थ है तपस्या का फल मिल गया अतः तपस्या क्षय को प्राप्त हो गयी है। अतएव मान से बचना चाहिये।

सबके पास मान को पचाने की क्षमता भी नहीं होती। जैसे समुद्र की पाचन शक्ति तो बहुत है, पर नदी-नालों की नहीं। मान को पचाना सबके वश की बात नहीं है। मान पाकर वे अभिमानी हो जाते हैं, विपथगामी हो जाते हैं। इसलिये भी मान से बचना चाहिये।

फिर तात्त्विक रूप से विचारें कि मान-अपमान हैं क्या?

पंचभूतों एवं उनके गुणों की अनुकूल प्रस्तुति, निवेदन या अभिव्यक्ति का नाम मान है एवं पंचभूतों एवं उनके गुणों की प्रतिकूल अभिव्यक्ति का नाम अपमान है। अनुकूल शब्द की अभिव्यक्ति ही मान हो जाता है और प्रतिकूल अभिव्यक्ति को अपमान कह देते हैं। हैं तो दोनों ही शब्द और वह कल्पित है। अतः इन दोनों में सम रहना चाहिये। मान-अपमान भाव राज्य की वस्तु है अतः यह ज्ञानी को नहीं व्यापते। अज्ञानी को व्यापते हैं। फिर अपमान से राम-कृष्ण जैसे हस्ती नहीं बच सके तब हमारी क्या बात है। अतः अपमान से मन विचलित न हो यह आवश्यक है। भक्त के लिये भी, कर्मयोगी के लिये भी एवं ज्ञानी के लिये भी।

शीत-उष्ण स्थूल शरीर की प्रधानता से प्राप्त होते हैं। जन्म काल से मृत्यु पर्यन्त। ये सभी को व्यापेंगे ही। इनके लिये यथायोग्य वस्त्र आदि की व्यवस्था अपेक्षित है।

ऋतु चक्र के अनुसार शीत-उष्ण प्राप्त होंगे ही। सर्दी में शीत, गर्मी में उष्णता, वर्षा ऋतु में वर्षा प्राप्त होगी ही सच्चा भक्त इसको सहता है। ये आने-जाने वाले, अनित्य हैं अतः उसको सहना चाहिये। ना तो लद्दाख की बर्फीली चोटी की शीतलता और न ही राजस्थान का मरुस्थल और उसकी तप्त हवा हमें अपने कर्तव्य कर्म से डिगा सकें। ऐसा होता है सच्चा भक्त। अनुकूल का कर्मी और प्रतिकूल परिस्थिति का कामचोर सच्चा कर्तव्यपरायण एवं भक्त नहीं हो सकता है।

सुख-दुःख में समता

अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल की प्रतीति से दुःख होता है।

सुख-दुख हमारे अपने पाप-पुण्यों के आधार पर प्राप्त होता है—देवों का शरीर पुण्य के प्रभाव से, पशुओं का शरीर पाप के प्रभाव से और मनुष्य का शरीर पाप-पुण्य दोनों के मिश्रण से प्राप्त होता है। सुख-दुःख हमें प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है। दुःख आता है तो समझें पूर्वकृत पापों का क्षय हो रहा है, सुख आता है तो समझें पुण्यों का क्षय हो रहा है।

सुख दुखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।।
अहं करोमीति वृथाभिमानः।
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः।।

काहु न कोऊ सुखदुख कर दाता। निज कृत करमभोग सबु भ्राता।।

मानस 2/91/4

कोई दूसरा सुख-दुःख दे रहा है, यह कुबुद्धि है। सब अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्रारब्ध बनकर सामने आता है। गीता के दूसरे अध्याय के 14 व 15, 38 व 56वें श्लोक में इस भाव से मुक्त होने अर्थात् उनसे ऊपर उठने का उपदेश है।

सुख-दुःख चक्राकार घूमता रहता है। सदैव न तो किसी का सुख ही बना रहता है। न सदैव किसी का दुःख ही बना रहता है। कालिदास कहते हैं—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्त को वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमैण।।

अर्थात् किसे केवल सुख या दुःख मिला है। जैसे रथ का पहिया ऊपर-नीचे होता रहता है, वैसे ही कभी सुख कभी दुःख। कभी सुख कभी दुःख आता-जाता रहता है। चाणक्य कहते हैं—

कस्यः दोषकुले नास्ति व्याधिना को न ताडितः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्य निरन्तरम्।।

अर्थात् किसके कुल में दोष नहीं है? कौन रोग से पीड़ित नहीं होता? किसे कष्ट नहीं हुआ? किसका सुख सदा रहता है? दुनिया की ओर देखें तो हम पायेंगे हमसे कितने बड़े-बड़े दुःखी हैं। इससे दुःख दूर होगा, दुःख कम होता है। दुःख की अपेक्षा सुख की प्राप्ति अधिक पर व्याप्ति कम। दुःख की प्राप्ति कम। पर राई के बराबर दुःख को मन की कल्पना से पहाड़ के तुल्य बना लेते हैं। सुख चारों अवस्था में प्राप्त होता है। दुःख केवल दो ही अवस्थाओं में प्राप्त होता है। राम का वनवास मात्र 14 वर्ष पर राज्य उससे बहुत अधिक, पाण्डवों का वनवास 13 वर्ष का पर राज्य 36 वर्ष। नल को कलि से प्राप्त कष्ट मात्र तीन वर्ष।

संसार में मीठा-मीठा हब व कड़वा-कड़वा थू यह नहीं चल सकता। अगर हम लाभ चाहेंगे तो हानि अवश्य प्राप्त होगी। अगर संयोग चाहते हैं तो वियोग अवश्य ही प्राप्त होगा। जो वियोग का कष्ट नहीं सह सकते उन्हें स्वयं को मीठे-मीठे संयोग का पक्षधर नहीं बनना चाहिये। सब सुख अन्ततोगत्वा दुःख में बदल जाता है, सब संयोग वियोग में बदल जाता है, लाभ हानि में बदल जाता है, सब जीवन बुढ़ापे में बदल जाते हैं। बुढ़ापा मृत्यु में और मृत्यु अनेक दुःखदायी जन्मों में बदल जाती है। संसार में सभी कुछ अस्थायी, क्षणिक, परिवर्तनशील है। अतः संसार को असार जानकर इससे विचलित न होवें। इसमें सम बने रहें। जिस भगवान् ने सृष्टि की रचना की है वे ही स्वयं साक्षी दे रहे हैं—जगत् जो है वह अनित्य, अशाश्वत एवं दुःखों का आलय है। जो स्वयं अनित्य है वह स्थायी, नित्य सुख कैसे दे सकता है। जो स्वयं ही दुःख रूप है वह कैसे हँसा सकता है, वह तो रुलायेगा ही। जगत की सभी वस्तुएं अयोग के गर्भ से टपकती हैं अतः वियोग रूपी गर्त में समाने के लिये बाध्य हैं।

सर्प फूफकार कर कहता है मैं काल हूँ, किन्तु मनुष्य उसको फँसाकर सब्जी बनाकर खाता है। करेला कहता है मैं कड़वा हूँ, मनुष्य कहता है मेरे पास आग-पानी मसाला है। नीम कहता है मैं कड़वा हूँ, मनुष्य कहता है मैं तेरी चटनी बनाकर खाऊँगा। गन्ना कहता है मैं डण्डा हूँ। जीव कहता है मैं तुझे चूस लूँगा। जगत कहता है, मैं दुःख रूप हूँ, जीव कहता है मैं तुझे पचा लूँगा। जगत कहता है—मैं अनित्य, अशाश्वत, दुःखों का आलय हूँ, पर जीव कहता है, मैं अविद्या, राग-द्वेष, अस्मिता अभिनिवेश, कर्मविपाक में ढालकर जगत को भोग्य बना लूँगा। इस प्रकार दुःख रूप अनित्य जगत् को, इन साधनों से सुख रूप बनाकर पचा लेता हूँ। जैसे कुत्ता विष्ठा को आनन्द का विषय बना लेता है।

वास्तव में सुख-दुःख में भेद नहीं है। मंद प्रकाश में रस्सी किसी को सर्प और किसी को सुनहरी माला दिखती है, पर सर्प और सुनहरी माला में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, दोनों ही रस्सी ही हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख भी अभिन्न हैं। जो मल आपके लिये अप्रिय है, वह कुत्ते का आहार बन जाता है। वह धरती के लिये खाद, नाली के कीड़े के लिये, पाखाने के कीड़े के लिये वही स्वादु आहार है। माघ माह की शीत में ठण्डे जल से स्नान से प्रथम में कंपकंपी, दाँत कटकटाना पर बाद में इसका तांता बंध जाना आदतवशात और उसी में सुख मिलने लगता है। वृन्दावन जाते समय अभी-अभी वैधव्य को प्राप्त माता जो पुत्र का सहारा लेकर रोते हुए जा रही है, पहले रोना कष्ट के कारण, बाद में रोने में ही सुख प्राप्त होने लगता है। निषेध करने पर ज्यादा रोने लगती है, क्योंकि रोने का अवसर न मिले तो कष्ट बढ़ जाता है, रोने से मन हलका हो जाता है। अपना दुखड़ा सुनाने में,

बढ़ा-चढ़ाकर बताने में भी बड़ा आनन्द आता है। अगर कोई अपना दुखड़ा सुनाने वाला न मिले तो हम दुःखी हो जाते हैं। अतः रोना अपना कष्ट सुनाना भी बहुत बार आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उससे दुःख सारा बाहर निकल जाता है नहीं तो भीतर घुटन बनी रह जाती है। इसलिये चिकित्सक कहते हैं इसे रुलाओ जो किसी हादसे सुन्न हो जाता है या रोने का अवसर नहीं मिला हो तो उसके लिये रोने का अवसर बना देवें। उदाहरण भगवती चाची का।

इस बात पर ध्यान देवें हम सुखी कब होते हैं? दुखी कब होते हैं? सुखाकार वृत्ति आती है तो हम सुखी, दुःखाकार वृत्ति आती है तब हम दुखी। सुख के हेतु आते जाते रहते हैं। सुख के हेतु सबके जीवन में हैं, दुःख के हेतु सबके जीवन में हैं और रहेंगे। जब सुख के हेतु आयेंगे तो थोड़ी देर के लिये सुखाकार वृत्ति हो जाएगी, जब दुःख के हेतु आएंगे तो थोड़ी देर के लिए दुःखाकार वृत्ति हो जायेगी। वृत्ति माने वर्तनशील, परिवर्तनशील। सुखाकार वृत्ति भी बराबर नहीं रहती, दुःखाकार वृत्ति भी बराबर नहीं रहती। वृत्ति का मतलब है जो बदलती रहे, जो बरतती रहे। जो स्थिर न रहे। अभी हममें सुख की वृत्ति है तो सुखी हैं। दुःख की वृत्ति आई दुःखी हो गये। काम की वृत्ति आई कामी हो गये, लोभ की वृत्ति आयी लोभी हो गये। अभिमान की वृत्ति आयी अभिमानी हो गये। ज्ञान की वृत्ति आई, ज्ञानी हो गये। इसी आधार पर जब भी दुःखाकार वृत्ति आयेगी, तब अपनी परिभाषा से ही वह थोड़े समय रहेगी फिर चली जायेगी। हम श्मशान में भी लोगों को हंसते हुए देखते हैं, एक तरफ चिता जल रही है दूसरी तरफ लोग हंस रहे हैं, राजनीति की चर्चा कर रहे हैं, चाय पी रहे हैं। इस प्रकार वृत्ति वर्तनशील होती है। शोक की स्थिति बदल जाती है।

मनुष्य सुखी-दुःखी कब होता है? जब वह अपने सुख या दुःख की स्वीकृति देता है। जब हम अपने को सुख से जोड़ लेते हैं। सुख-दुख आभास भाष्य नहीं है, ये साक्षी भाष्य हैं। इस बात को समझें। यह जो सामने माइक है यह आभास भाष्य है। यह माइक मुझको भी दीख रहा है, आपको भी दीख रहा है। अगर हम लोग ना करेंगे तो क्या यह माइक नहीं रहेगा? लेकिन सुख-दुःख यह साक्षी भाष्य है। अगर अपनी गवाही दूं कि मैं सुखी हूँ, तो मैं सुखी हूँ। मैं गवाही देता हूँ कि मैं दुःखी हूँ तो मैं दुःखी हूँ। जिन स्थितियों में एक व्यक्ति बहुत सुखी है, उन्हीं स्थितियों में दूसरा व्यक्ति बहुत दुःखी हो सकता है। जिन स्थितियों में एक दुःखी है उन्हीं स्थिति में दूसरा व्यक्ति सुखी है। सुख और दुःख केवल एक वृत्ति नहीं है। सुख और दुःख अपने द्वारा उस वृत्ति को स्वीकृति देना है। अगर उसको हम अपनी स्वीकृति नहीं देते हैं, उसके साथ हम अपना अहं न जोड़ें। जब उसके साथ हम अपना अहम् जोड़ देते हैं, तभी सुखी-दुःखी होते हैं। और अपनी स्वीकृति देना बंद कर दें तो काहे के सुखी, काहे के दुःखी।

सुख-दुःख या द्वन्द्वों की प्राप्ति एवं व्याप्ति अहं पर्यन्त ही है। जब सुषुप्ति में अहं सो जाता है या अहं को चिकित्सा में सुविधा के लिये कृत्रिम उपाय से सुला देते हैं, समाधि में अहं विस्मृत हो जाता है और तत्त्वज्ञान में अहं बाधित हो जाता है। उस अवस्था में द्वन्द्वों की व्याप्ति नहीं होती है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर प्रारब्ध पर्यन्त शरीर तो रहता है, द्वन्द्वों की प्राप्ति तो होती है पर व्याप्ति नहीं क्योंकि अहं तत्त्वज्ञान से बाधित हो चुका है। इसलिये तो रामकृष्णदेव के गले में कैंसर पर उन्हें कष्ट व्याप्त नहीं हुआ। रमण महर्षि को भी विष फोड़ा हुआ पर अन्त तक उनका मन अप्रभावित एवं अविचलित रहा।

इनके लिये सुख-दुःख आते हैं रंगमंच पर, अपनी भूमिका दिखाकर, अपना अभिनय दिखाकर चले जाते हैं, इससे वे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते। फलतः व्याप्त नहीं हो पाते।

'समः' सम माने समान। सबमें समान कैसे होगा? तो सम होने का सूत्र देते हैं—'सङ्गविवर्जितः' यह सम होने का सूत्र है। सङ्ग माने चिपक जाना, आसक्ति। जो आसक्ति रहित है वही सबमें समान है। जिसकी आसक्ति सुख में है तो वह दुःख में दुखी होगा ही। जिसकी आसक्ति मान में है वह अपमान से दुःखी होगा ही। अनासक्त होने का सबसे अच्छा उदाहरण दर्पण है। शीशा है आप देखिये। शीशे का लक्षण है जो शीशे के सामने खड़ा होगा उसको ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित कर देगा। और शीशे के सामने से हट जाओ तो शीशे में कुछ रहता है? कुछ नहीं, साफ। सामने जो कर्तव्य कर्म है पूरी लगन से उसको किया। हो गया छुट्टी। भूल ही गये। तो यह 'सङ्गविवर्जितः' सूत्र है जिसके आधार पर समत्व की प्राप्ति होती है। जब तक अनासक्ति नहीं होगी तब तक समता नहीं आयेगी।

निन्दा-स्तुति में सम

एक सच्चे भक्त को न निन्दा में उदास हो जाना चाहिये और न स्तुति में फूलकर कुप्पा हो जाना चाहिये।

> **निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय।**
> **बिनु पानी साबुन बिना निर्मल करत सुभाय।।** (कबीर)

निन्दा सुनकर दुःखी नहीं होता। निन्दा आत्मनिरीक्षण का अवसर देती है। निन्दा से मन का मैल धुलता है। कुछ-न-कुछ तो उसमें सचाई होती है। तिल का ताड़ ही तो करता है। तिल तो है ही। तो तिल जैसे अपराध को दूर कर दो। निन्दक तो बड़ा कृपालु है। गुरु का काम कर रहा है।

व्यर्थ निन्दा करने वाला स्वयं मैला हो जाता है, दूसरों को मैला नहीं कर सकता। अखबारों और इश्तिहारों का सहारा लेकर कीचड़ उछालने वाले लोग

भी वास्तव में अपने को ही गन्दा करते हैं। दूसरों के चरित्र हनन का प्रयत्न करना अपना ही चरित्र हनन करना है। जिनके पात्र में केवल विष ही है तो विष ही उगलेंगे। इससे भयभीत नहीं होना चाहिये।

स्तुति से डरना चाहिये। प्रथम तो स्तुति से ऊपर उठना ज्यादा कठिन है। कबीरदासजी कहते हैं—

कंचन तजना सहज है सहज त्रिया का नेह।
मान वडाई त्यागना कबिरा दुर्लभ येह।।

फिर आजकल चापलूस लोगों की कमी नहीं है। चापलूस लोग झूठी स्तुति करते हैं। कोई व्यक्ति निन्दा करे तो बुरा नहीं मानना चाहिये। स्तुति करे तो डर जाना चाहिये। हां, यह ठीक है कुछ लोग श्रद्धा से भी स्तुति करते हैं, पर श्रद्धा में भी अतिरंजना ही करते हैं। स्तुति से हमारा अहंकार पुष्ट होता है, बढ़ता है। अतः स्तुति खतरनाक है। निन्दा से क्रोध बढ़ता है। अगर क्रोध बढ़ता है तो निन्दा भी खतरनाक है। निन्दा से क्रोधित न हों और स्तुति में अहंकार न हो।

वैदान्तिक दृष्टि से विचार करें तो निन्दक क्या करता है। जो हमें प्रिय है, हमारी आसक्ति का विषय है उस अहंता-ममता पर ही तो चोट करता है। और वेदान्त भी हमारी अहंता-ममता पर चोट करता है।

सुखबोधाश्रमजी को एक सज्जन ढोंगी पाखण्डी निर्लज्ज आदि अनेक गालियाँ आधे घण्टे तक देता रहा। स्वामीजी चुपचाप सुनते रहे फिर जब वह थकने लगा तब स्वामीजी ने कहा—जो दोष मुझे मालूम न हो वह बताओ। यह तो मुझे मालूम ही है कि मैं पाखण्डी हूँ, ढोंगी हूँ आदि। तब उसने कहा, तुम बड़े निर्लज्ज हो। यह कहकर चला गया।

निन्दा-स्तुति में अनुगत शब्द मात्र, ज्ञान मात्र को देखें। निन्दा भी शब्द है, स्तुति भी शब्द है। अतः निन्दा भी ज्ञान है, स्तुति भी ज्ञान है। ज्ञान-ज्ञान में एकता है, समता है। यानी स्तुति एवं निन्दा में भी अनुगत शब्द मात्र या ज्ञान मात्र को देखें। और ज्ञान ही तो आत्मा है। यहाँ ज्ञान तो आत्मा का हो रहा है और निन्दा तो अनात्मा की होगी। क्योंकि आत्मा की तो निन्दा हो ही नहीं सकती। अतः ज्ञान (स्तुति) तो आत्मा की होती है, क्योंकि आत्मा अजर-अमर अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध मुक्त है। निन्दा तो अनात्मा की होगी क्योंकि वह क्षणिक, नश्वर, विकारी है। तो इस तरह वेदान्त की सिद्धि होती है। दृष्टान्तः एक किसान अपने बैल को गाली दे रहा था। इसे देखकर अंग्रेज को बुरा लगा। उसने किसान को टोका। तब किसान ने कहा, बैल तो समझता नहीं है, अतः उसे गाली नहीं लग सकती। मैं स्वयं अपने को गाली दे नहीं सकता, गाली को तुम समझ रहे हो, अतः तुझे ही गाली लगी।

वेदान्त में भी अनात्मा को गाली देते हैं कि नहीं? अतः वेदान्त भी तो यही कर रहा है। और आत्मा तक तो गाली की पहुंच है ही नहीं और अनात्मा को हम भी गाली देते हैं।

यहाँ भी यथार्थ व्यावहारिकता का विचार कर लेना चाहिये। कोई अगर हमारी जाति, देश, धर्म की निन्दा करता है तो विवेकानन्द का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिये। इस प्रसंग में उनके साथ घटी कई घटनाएं हैं।

मौन—दिनभर हम बोलते-बोलते थक जाते हैं, बक-बक करते-करते थक जाते हैं। तब स्वाभाविक इच्छा होती है मौन और एकान्त की। उससे खोयी हुई शक्ति पुनः अर्जित हो जाती है। ऐसी स्थिति प्रायः सभी की होती है। वाणी बोलने से हमारी अपार शक्ति नष्ट हो जाती है। वह शक्ति नष्ट होने से बच जाती है। जब हम बोलते रहते हैं तो बहिर्मुख बने रह जाते हैं, सांसारिक व्यवहार में लगे रहते हैं अतः अन्तर्मुखी होने का अवसर नहीं मिलता। मौन होने पर हमें अन्तर्मुखी होने का अवसर मिलता है। जब वाणी का रिश्ता संसार से टूटता है तब आत्मा से जुड़ता है। तब आत्म चिंतन प्रारम्भ होता है, मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाना है। मुनि मौन रहकर साधना करता है। वाणी संयम से विराट शक्ति उत्पन्न होती है। जिसका वाणी संयम सिद्ध हो जाता है उसके वाक् भी वाक् नहीं होकर मंत्र हो जाते हैं। वे मंत्र द्रष्टा बन जाते हैं और उसके प्रसाद से लोग तृप्त-तृप्त हो जाते हैं। संसार में जितना भी कलह-द्वेष, अन्याय, अत्याचार है वह वाणी के असंयम के कारण ही है। संसार के बड़े-बड़े युद्ध वाणी के असंयम के कारण हुए। मौन रहने से वाणी में शक्ति आ जाती है, उनकी कोई भी वाणी मिथ्या नहीं होती। मौन, वाणी का संयम, वाणी की तपस्या है। वाणी संयम होने से मन संयम हो जाता है। अतः मौन रहना, वाक्संयम, मन संयम मौन साधना है। मौन साधक जब मौन खोलता है तो वह शब्द नहीं रहकर मंत्र हो जाते हैं। जो कभी मिथ्या नहीं होते।

मौनी का अर्थ केवल चुप रहना नहीं। मौनी का मतलब मननशीलता है। मुंह बंद है और भीतर से गाली दिये जा रहे हैं यह मौन नहीं। मुंह बंद है और नाक से बात कर रहे हैं, यह मौन नहीं है। मुंह बंद है और लिख-लिख कर बात कर रहे हैं, यह मौन नहीं है। मौन का लक्षण है, हम अपने इष्टदेव के प्रति, अपने मंत्र के प्रति, अपने सिद्धान्त के प्रति, अपने स्वयं के स्वरूप के प्रति, जगत के स्वरूप के प्रति, भगवान् के स्वरूप के प्रति मननशील।

मौनी का दूसरा अर्थ है संयत वाक्। मौनी का मतलब होता है, जब प्रयोजन हो तब बोलना। मौनी का मतलब गूंगा-बहरा हो जाना नहीं है। मौनी का मतलब है अकारण नहीं बोलना।

वाणी के चार पाप होते हैं

इस संदर्भ में एक श्लोक है–

अनृतं पारुष्यं च पैशुनम् चापि सर्वशः।
असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्यात् चतुर्विधम्।।

झूठ बोलना, यह वाणी का पाप है। कड़ुवा बोलना, कठोर बोलना यह वाणी का पाप है। चुगली करना यह वाणी का पाप है। चौथा पाप बड़ा अद्‍भुत है। जो असम्बद्ध प्रलाप करते हैं वह भी वाणी का पाप है। हम लोग ज्यादातर असम्बद्ध प्रलाप ही तो करते हैं। वाणी के गुण भी चार हैं—सुष्ठु, सारं, मितं, मधुः। सुष्ठ बोले। सार-सार बोले। कम बोले और मीठा बोले।

सन्तुष्टो येन केनचित् यथा लाभ संतोष

सदा काहु सो कुछ न चाहूंगो।

कबहु ऐसी रहनी रहुंगो।—विनय पत्रिका

भगवद्‍भक्त को अपने शरीर निर्वाह के लिये वर्तमान में जो प्राप्त हो जाता है, वह भगवान् का विधान मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेता है। यह बाहर वाला सन्तोष है। जो मिल गया वह भगवान् ने बहुत दे दिया। यह भीतर का सन्तोष है बाहर जो प्राप्त हो जाय उससे ही वह सन्तुष्ट रहता है। इसलिये पहले 14वें श्लोक में भीतरी संतोष की बात कही गई। उसके बाद यहां 19वें श्लोक में बाहरी संतोष की बात कही गई है। जो सहज प्राप्त है उसी से सन्तुष्ट है।

अनिकेत—अनिकेत का अर्थ यह नहीं कि वह बिना घर बार के होगा, पेड़ के नीचे रहेगा। अनिकेत का अर्थ वह गृहासक्त नहीं है। जैसे कि राजा जनक ने राज्य का त्याग नहीं किया। न रामकृष्णदेव या रमण महर्षि ने आश्रम का त्याग किया। अनिकेत का अर्थ किसी एक घरविशेष में आसक्ति नहीं हो। सारा संसार ही उनका अपना घर है। वे सारे संसार के होते हैं, और सारा संसार उनका होता है। उनके लिये कोई पराया नहीं है। इसलिये सारा संसार ही उनका घर है। वे अपनी देह पर ही आसक्त नहीं हैं तब गेह पर क्या आसक्त होंगे? शीत-ताप निवारण के लिये, सिर ढकने के लिये, साधन भजन के लिये एवं जनकल्याण के लिये एक कुटिया होती है।

स्थिरमति—जिसकी बुद्धि विचलित नहीं है। ऊपर 14वें श्लोक में दृढ़ निश्चय कहा है यहां 'स्थिरमति' कहा। एक बार मति से मनन करके जो फैसला किया कि हमारा लक्ष्य परमात्मा, हमारा प्राप्य परमात्मा, हमने सब-कुछ परमात्मा को अर्पित कर दिया। वह बुद्धि हमने अपने इष्टदेव को सौंप दी। फिर उसमें कोई

विचलित नहीं हुए, फिर उसमें कोई परिवर्तन नहीं। ऐसा व्यक्ति स्थिरमति है। और ऐसे लक्षणों से युक्त भक्त भगवान् को प्रिय है।

इस प्रकार 13वें से 19वें श्लोक तक सिद्ध भक्त के लक्षण हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।20।।

परन्तु जो मेरे परायण हुए, मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर श्रद्धावान पुरुष इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

13वें से लेकर 19वें तक जो भक्तों के लक्षण बताये गये हैं ये धर्म के सार हैं। ये धर्म के सर्वस्व हैं। अमृतत्व की ओर ले जाने वाले हैं। इसलिये उसे धर्ममय 'अमृत' कहा गया है। जो इन लक्षणों को जीवन में फलित करते हैं, वे धर्ममय अमृत को उपलब्ध होते हैं। ऐसे ही भक्त भगवान् को प्रिय हैं? इन लक्षणों में न कोई विशिष्ट उपासना पद्धति बतायी गयी। न किसी धर्मग्रंथ की ही प्रशंसा की गयी है। न ऐसे पूजा करो ऐसे चन्दन लगाओ कुछ बताया गया है। न एहिक की उपेक्षा करके केवल परलोक का साधन करने को कहा गया है। किसी को न जंचे, न रुचे, क्षुद्र, संकीर्ण, वंचक, असत्य, स्वार्थी लगे ऐसा इसमें कुछ भी नहीं है। इसमें आदर्श मानव जीवन की रचना के लिये आवश्यक लक्षण बताये गये हैं।

गीता में धर्म शब्द आठ-दस स्थानों पर आया है। चौथे अध्याय के दो श्लोक बहुत सुप्रसिद्ध हैं—

यदा-यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। 4/7

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।। 4/8

अर्थात् जब-जब धर्म पर ग्लानि हो आती है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब हे भारत? मैं अवतार लिया करता हूँ। साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म की संस्थापना के लिये मैं युगानुयुग अवतार लेता हूँ।

यहाँ धर्म शब्द हिन्दू-धर्म मत, विशिष्ट पूजाविधि, उपासना मार्ग के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ। भगवान् श्रीकृष्णजी के समय मुसलमान, यहूदी आदि आज के सम्प्रदाय विद्यमान नहीं थे और भारतीयों को हिन्दू का अभिधान भी प्राप्त नहीं हुआ था। अतः धर्म माने हिन्दू धर्म नहीं। शैव, वैष्णव, शाक्त सम्प्रदाय भी नहीं। यहाँ धर्म माने मानव की मानवता को चरितार्थ करने वाला धर्म; सबके लिये श्रेयस्कर और कल्याणकारी धर्म।

हिन्दू धर्म के इस सार्वभौम स्वरूप ने प्राचीनकाल से अर्वाचीनकाल तक विश्व मनीषा को अपनी ओर आकृष्ट किया है। विश्व के सुलझे हुए मनीषियों ने एक स्वर से, मुक्त कंठ से हिन्दू धर्म को ही मानव धर्म के रूप में स्वीकारा है और भविष्य में यही सारे विश्व में धर्म के रूप में समादृत होगा। क्योंकि इसकी छाया के तले ही सारी विश्व मानवता अपना मार्गदर्शन प्राप्त कर विश्राम को उपलब्ध हो सकेगी।

रोम्या रोला—जो प्रथम जीवन में मार्क्सवाद से प्रभावित थे। जब मार्क्सवाद से मोहभंग हुआ तब शान्ति एवं मार्गदर्शन पाने के लिये अन्य धर्मों की शरण में गये। वे कहते हैं—

मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया है, परन्तु मुझे उन सबमें हिन्दूधर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखलाई देता है—मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत को सिर झुकाना पड़ेगा।

डॉ. अरनाल्ड टोयनबी ने सम्पूर्ण मानव जाति की यात्रा कथा का सर्वेक्षण करने के बाद यह लिखा—

यह बिल्कुल स्पष्ट होता जा रहा है कि उस अध्याय का अन्त भारतीय उपसंहार से ही होगा जिसका प्रारम्भ पाश्चात्य है। यदि मानव जाति का आत्म-विनाश में अन्त न होना हो तो यहां हमारे पास वह दृष्टिकोण और भावना है जिससे मानवजाति के लिये एक परिवार के रूप में विकास की सम्भावना है और इस आणविक युग में सर्वनाश से बचने का यह एकमात्र विकल्प है।

महात्मा थोरो गीता के विषय में कहते हैं—मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धि को गीता रूपी पवित्रतम गंगाजल में स्नान करवाता हूँ। गीता का तत्त्वज्ञान सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है। इसे हजारों साल पहले देवताओं ने लिखा था लेकिन तब से आज तक दुनिया में इसकी टक्कर का ग्रन्थ नहीं लिखा जा सका। गीता के साथ तुलना करने पर जगत का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ मालूम लगता है। आज के युग ने नई सभ्यता, असीम वैज्ञानिक प्रगति तथा शिक्षा में कितने ही कीर्तिमान कायम किये हैं। लेकिन गीता ज्ञान की तुलना में वे सब उपलब्धियां बहुत छोटी मालूम पड़ती हैं, नगण्यप्राय। गीता का ज्ञान हमारी परिकल्पना और विचारों से इतने परे और पृथक् लगता है कि सोचना पड़ता है कि गीता किसी और युग की देन है।

संसार में कितने ही स्मारक खड़े किये गये। मिस्रदेश के पिरामिड भी बने लेकिन मैं देखता हूं कि उस पुरानी दुनिया के जितने भी स्मारक हैं—वे सब मिलकर भी गीता का मुकाबला नहीं कर सकते क्योंकि मेरे विचार में गीता उस प्राचीन युग का श्रेष्ठतम स्मारक है। और वह है महान् ज्ञान स्मारक।

राबर्ट ओपनहाइमर—यह एक अत्यन्त विस्मयकारी तथ्य है कि 16 जुलाई, 1945 को अमेरिका के न्यू मैक्सिको रेगिस्तान में प्रथम अणुबम का परीक्षण किया जा रहा था तो आविष्कारक राबर्ट ओपनहाइमर ने ज्योंही आकाश में अनन्त सूर्यों के प्रकाश के समान प्रचण्ड अग्नि ज्वालाओं को बम के विस्फोट के साथ ही देखा तो उन्हें गीता के विराटरूप दर्शन की स्मृति हो आई और वे जेब से गीता निकालकर एकादश अध्याय का श्लोक गाने लगे। जबकि ईसाई होने के नाते बाइबिल के वचन स्मृति में आने चाहिये थे। उन्हें गीता के श्लोक स्मरण आते हैं—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। 11/12

यदि, आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश उत्पन्न होवे वह कदाचित् विश्वरूप परमात्मा के तेज के सदृश हो।

शीघ्र ही इस ज्योति का रूप विकराल हो गया, मानो समस्त आकाश-पाताल को दैत्याकार लपटों में आवृत्त कर लेगी। ओपनहाइमर को लगा कि मैं काल रूप में परिणत हो गया और उन्हें पुनः गीता का उद्घोष याद आ गया—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।। 11/32

लोकों का नाश करने वाला प्रवृद्ध महाकाल हूँ मैं। इस समय लोकों को नष्ट करने को प्रवृत्त हुआ है।

अणुबम के इस भयावह काल रूप को देखकर उन्हें ग्लानि हुई कि राजनीतिक लोग इसका दुरुपयोग करेंगे अतः इसका उन्होंने विरोध किया। बाद में रामकृष्ण मिशन में संन्यासी का जीवन बिताया।

इस प्रकार साहित्य जगत के, इतिहास जगत के, दार्शनिक जगत के, विज्ञान जगत के मनीषी हिन्दू धर्म व गीता के महत्त्व को स्वीकारते हैं, क्योंकि गीता में धार्मिक रूढ़ियां, कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है। इसके वैचारिक जादू ने ही विश्व मनीषा को अपनी ओर आकृष्ट किया है एवं भावी विश्व के विश्व धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है।

इसमें भगवान् के भक्त के जो लक्षण बताये हैं उसे अमृतधर्मा कहा है। इन लक्षणों का जीवन में जितना अंश हम उतार पाते हैं, उतने ही हम अमृतत्व के, अमरता के निकट पहुँच जाते हैं या अमृत के अधिकारी बन जाते हैं। भक्तियोग एवं भक्तों के लक्षण को अमृत धर्म कहा है। इसका अर्थ है इसके विपरीत कोई विष धर्म भी है। क्योंकि जैसे ही हम छोटी बहू कहते हैं वैसे ही हम बड़ी बहू की सत्ता को सिद्ध कर देते हैं। जैसे ही हम मझंली बहू कहते हैं वैसे ही हम छोटी बहू

और बड़ी बहू की सत्ता को सिद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार अमृत धर्म कहते ही हम सिद्ध कर देते हैं इसके विपरीत कोई विष धर्म भी है।

जो एक जीव के प्रति भी द्वेष सिखाता है, शत्रुता सिखाता है, कठोरता सिखाता है, Hidden कहता है, काफिर कहता है, उनके धन, जीवन और स्त्री पर अपना अधिकार मानता है। उनके धन, जीवन और स्त्री को छीनकर भोग करने की प्रेरणा देता है वह धर्म विष धर्म है। ईसाइयत एवं इस्लाम का इतिहास इन्हीं बातों से भरा पड़ा है। सेमिटिक परम्परा विष धर्म का ही पोषण करती आयी है और आज भी कर रही है, उदाहरणार्थ—

पाश्चात्य ईसाई जगत् द्वारा मानवता का सर्वसंहार

डॉ. पितृम ए. सोरोकिन डाइरेक्टर, हार्वर्ड रिसर्च सेन्टर इन क्रिएटिव अल्ट्रइज्म, (रीकन्स्ट्रक्शन आफ ह्यूमैनिटी, पृ. 47 प्रकाशक : भारतीय विद्या भवन, बम्बई) से प्रकाशित में कहते हैं—

'विगत कुछ शताब्दियों में मानव समाज का वह वर्ग जो सर्वाधिक युद्ध-पिपासु, सर्वाधिक आक्रामक, सर्वाधिक बलात्कार-परायण तथा सर्वाधिक सत्ता-मदोन्मत्त रहा है, वह निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई जगत् है। इन शताब्दियों में, पाश्चात्य ईसाईयत ने सभी दूसरे महाद्वीपों पर आक्रमण किया है; इनकी सेनाओं ने, जिनके पीछे-पीछे इनके पादरी और व्यापारी चलते हैं, अधिकांश गैर-ईसाई राष्ट्रों को गुलाम बनाकर लूटा-खसोटा—पूर्णतया अशिक्षित आदिम जातियों से आरम्भ कर गैर ईसाई राष्ट्रों तक के प्रति उनका यही अत्याचार रहा है। आदिम अमरीकावासी, अफ्रीकावासी, आस्ट्रेलियावासी तथा एशियाई जनसमूह—सभी इस विचित्र प्रकार के 'ईसाई-प्रेम' के शिकार हुए हैं, जिसके सामान्य लक्षण रहे हैं—निर्दयतापूर्ण सर्वनाश, पराधीनता, बलात्कार, सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का, सामाजिक संस्थाओं का, तथा 'ईसाई-प्रेम' के शिकार हुए व्यक्तियों की जीवन-पद्धति का विनाश, शराबखोरी, यौन रोगों, व्यावसायिक हृदयहीनता आदि सामाजिक पापों का प्रचार, इत्यादि-इत्यादि।'

इस्लाम का इतिहास भी कम दर्दनाक नहीं। उन्होंने गैर मुसलिम (काफिर) देश के विरुद्ध जेहाद बोलकर भयंकर रक्तपात किये। नारी जाति का घोर अपमान किया। धन और इज्जत को लूटा, नन्हे-नन्हे बच्चों को दीवारों में चुनवाया, विद्यार्थियों की आंखें निकलवायी। बोटी-बोटी नुचवायी, आरों से चिरवाया, चर्खियों से कटवाया। दो-दो पैसों में सिर बिकवाये। जलते हुए तवों पर जलाया, उबलती हुई देग में जलवाया। मन्दिरों मठों को तोड़ा, पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों को जलाया। देव प्रतिमाओं को अपने शौचालयों में औंधे मुख लगवाया, दुर्लभ

ग्रन्थों को जलाकर अपने हमाम गर्म करवाये और देश के नर-नारी को विदेश में गुलाम बनाकर बेचा। ये सब धर्म के नाम पर, धर्म के प्रसार के लिये हुआ। धर्म के इस स्वरूप को देखकर और इसको धर्म का पर्याय मानकर ही बहुत से विचारकों ने धर्म पर विष उगला है, कहर ढाया है। वे धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित न होने के कारण भ्रम के शिकार हुए हैं। पर जो हिन्दू धर्म के सम्पर्क में आया। धर्म के यथार्थ रूप के सम्पर्क में जो भी आया वह मुक्त कंठ से हिन्दू धर्म की प्रशंसा करने और उसको मानव जीवन के निर्माण का सर्वश्रेष्ठ साधन बताते हुए हिन्दू धर्म को ही भविष्य के विश्व धर्म के रूप में स्वीकारा है।

जबकि हमारी दृष्टि थी 'मम् देशो भुवन त्रय। हमने तो विश्व को धर्म, सभ्यता, संस्कृति, कला, विज्ञान का दान दिया अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा बिना अपना अहित किए हुए। बिना किसी देश की स्वाधीनता छीने, बिना किसी के धर्म को छीने, बिना किसी के धन पर डाका डाले, बिना किसी मां-बहिन की इज्जत पर हाथ डाले। बिना उनके सांस्कृतिक जीवन को तहस-नहस किये। हमारी दृष्टि सर्वभूत हित की रही केवल हिन्दू हित या भारतवासी के हित की कभी नहीं रही।

हाँ, यह ठीक है गीता के काल में ईसाई-इस्लाम का अस्तित्व नहीं था। उस समय अन्य असुरों का अस्तित्व था। रावण, कुम्भकरण का, कंस, जरासंध, शिशुपाल जैसे असुरों का। उन्हीं असुरों का स्थान ईसाइयत-इस्लाम ने लिया। इनमें असुरों के सब लक्षण चरितार्थ है। रावण ब्रह्माजी, शिवजी को मानता था—विष्णु का शत्रु था, हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी को मानता था, विष्णु को अपना शत्रु मानता था यही बात इन दोनों के साथ है जो God या अल्लाह को नहीं मानता, इसके अलावा किसी को मानता है वे इनको मान्य नहीं, इनकी दृष्टि में काफिर हैं। हिडेन है। अतः निमर्म ढ़ग से वध के योग्य हैं।

स्पष्ट है असुरों का नाम बदला है काम नहीं। काम तो और वीभत्स हुआ है।

व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य में धर्म दो हैं—एक मृतधर्म है और दूसरा अमृत धर्म है। अमृत कहते हैं, आत्मा को और मृत कहते हैं विषयों को। हम सब मृत धर्म के पीछे पड़े हैं।

ऊपर अमृत धर्म है और नीचे मृत धर्म है। ऊपर मानव के मस्तिष्क ब्रह्मरन्ध्र में अमृत धर्म है और नीचे जननेन्द्रिय, मलद्वार, यमद्वार में मृतधर्म है।

मन सत्वोन्मुख होने पर ऊपर जाता है, रजोन्मुख होने से कभी ऊपर कभी नीचे जाता है और तमोन्मुख होने से नीचे जाता है। मन अगर नीचे की ओर जाता है यमद्वार की ओर, नरक की ओर जाता है ऐसा मन अपना ही शत्रु है। और नरक

की सात सीढ़ियां है। विषयों का ध्यान, विषयों के संग की इच्छा, फिर विषयों की कामना, कामना में विघ्न से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट, स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि नाश एवं बुद्धि नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। यानी ये मन को नीचे ले जाने के सात सोपान हैं।

जैसे ये नरक की सीढ़ियां हैं वैसे ही भक्त के लक्षण जो दिये गये हैं वे स्वर्ग या अमृतत्व की सीढ़ियां हैं। जितने भक्तों के लक्षण दिये गये हैं जितने-जितने हमारे जीवन में आते जायेंगे उतने ही हम अमृतत्व की ओर, ब्राह्मणत्व की ओर, ब्रह्मरंध्र की ओर, सहस्रार की ओर चढ़ते जायेंगे। यह ऊर्ध्वगामी मन ही हमारा परम मित्र है। ऊर्ध्वगामी मन हमें अमृतत्व की ओर ले जाता है और अधोगामी मन हमें यमद्वार, नरक, पतन की ओर ले जाता है।

जहां ऊर्ध्वगामी मन वाले, ज्ञानी लोग जमा हों तो वहां लड़ाई हो ही नहीं सकती। ज्ञानी से ज्ञानी मिलेगा तो ज्ञान की, भक्ति की चर्चा होगी। और अधोगामी वाले, मूर्ख परस्पर मिलेंगे तो, मूर्खों में परस्पर लड़ाई होगी। मूर्ख से मिलने पर झगड़ा होता है। आज सारा संसार लड़ रहा है। अर्तात् सभी मूर्ख हैं।

जैसे हृदय पूरे शरीर के स्पन्दन एवं रक्त संचार का केन्द्र है। उसी प्रकार भक्तियोग पूरी गीता के तत्त्वज्ञान का सार है। भक्ति की इस विशद व्याख्या में ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, राजयोग आदि सभी समा गये हैं।

भगवान् ने भक्तियोग को धर्म रूपी अमृत कहा है। जो इसका सेवन करते हैं वे भक्त अमर हो जाते हैं और वे भगवान् को अतीव प्रिय हैं। यदि भक्त का एक भी लक्षण जीवन में आ जाय तो जीवन धन्य हो जाय और एक लक्षण भी मानव जीवन में प्रतिफलित हो तो मानव देवता बन जाय।

संसार का हृदय है मानव। मानव सुधर जाय तो संसार सुधर जाय। मानव का विकास संसार का विकास और मानव का ह्रास संसार का ह्रास है। मानव का हृदय भगवान् है। यदि मानव के मन में भगवान् का ध्यान रहे तो मानव सुधर जाय। परमेश्वर को भूलना ही सब प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामाजिक रोगों का मूल कारण है—

गुरु नानकदेव कहते हैं—

परमेश्वर तो भुल्लया व्यापन सब रोग

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

Disease is to be dis at ease with God अर्थात् ईश्वर के साथ सामंजस्य टूट जाना ही रोग है। या ईश्वर के साथ सरल-सहज सम्बन्ध को भूल जाना ही रोग है।

रेल्फ वाल्डो इमर्सन

The beginning and end to everything wrong with us is that we have forgotten God. अर्थात् हमारे समस्त क्लेशों का प्रथम एवं अन्तिम कारण यही है कि हम ईश्वर को भूल गये हैं। रामकृष्ण देव कहते हैं—ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति में है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर में नहीं है और इसलिये वह दुःखी है।

मानव के विकास के लिये परमेश्वर की निरन्तर स्मृति परम अनिवार्य है। भगवान् का हृदय है भगवद्‌गीता। भगवान कहते हैं—गीता मे हृदयम् पार्थ। अर्थात् हे पार्थ! गीता मेरा हृदय ही है। गीता का हृदय है द्वादश अध्याय। भक्ति हृदय की वस्तु है। मानव शरीर में हृदय शरीर के नीचे से दो-तिहाई भाग की ऊंचाई पर और सिर से एक-तिहाई भाग नीचे स्थित है। गीता में 18 अध्यायों में दो-तिहाई (12 अध्याय तक) एक ओर और एक-तिहाई दूसरी ओर बीच में 12वें अध्याय में ही भक्तियोग का स्थान है। यह गीता के कलेवर का भी हृदय है और गीता के तत्त्वज्ञान का भी हृदय है।

अन्य अध्यायों में भगवान् ने अपना ज्ञान बांटा है। किन्तु द्वादश अध्याय में भगवान् ने अपने हृदय का प्रेम-माधुर्य बांटा है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है हमने जिह्वा की तोड़-मरोड़ और तर्क-कुतर्क की तोड़-जोड़ बहुत सीख ली है किन्तु हृदय के अमृत स्रोत का हमने अभी तक स्पर्श नहीं किया है। भक्तियोग हृदय के अमृत स्रोत को प्रस्फुटित करने वाला योग है। इससे मानव जीवन दिव्य, जीवन वरदान एवं संसार वैकुण्ठ बन जाता है।

भगवान् का अपना आश्वासन है—

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगीनां हृदये न च।
मद् भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

हे नारद न मैं बैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न योगियों के हृदय में। मैं तो वहीं निवास करता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा यशोचिन्तन गाते हैं।

भक्त के लक्षण आज हमें सुदूर मालूम पड़ते हैं, ऐसा लगता है कि हमारी पहुंच से बहुत दूर हैं पर साधना करते-करते वह समय आयेगा ये लक्षण हमारे जीवन के माध्यम से भी प्रकट होने लगते हैं। स्वामी आत्मानन्दजी स्वयं का उदाहरण देकर बताते हैं कि जब में जूनागढ़ गया और देखा कि साढ़े सात हजार सीढ़ियां हैं। अढ़ाई हजार चढ़ो तो जैन मन्दिर आयेगा, फिर अढ़ाई हजार सीढ़ियां चढ़ो तो अम्बा मन्दिर आयेगा फिर अढ़ाई हजार सीढ़ियां तय करो तो ऊपर आयेगा दत्तात्रेय का मंदिर। इस प्रकार साढ़े सात हजार सीढ़ियां। मैं तो पहले ही

घबरा गया। मेरा शरीर देखते ही हैं तो इतना वजन लेकर चढ़ना। तो धीरे-धीरे चढ़ा। मुश्किल से सौ सीढ़ियां चढ़ा होगा, बैठ गया। भाई हम तो नहीं जाते। बिल्कुल जायेंगे नहीं। एक यात्री ने कहा, आप अभी से क्यों संकल्प करते हैं नहीं जाने का। उसने कहा, आप संकल्प छोड़ दीजिये। आप इतना ही सोचें कि आपको बस अढ़ाई हजार सीढ़ियां ही जाना है। ऊपर क्या देखते हैं। आप चलिये तो धीरे-धीरे। न जाने कहां से भक्त आ गया। अनजान-अपरिचित। मैंने कहा, तू मेरे पीछे लगा है? तू अपना समय नष्ट कर रहा है। तू चल न आगे। नहीं, मैं तो आपको लेकर ही जाऊंगा। बड़ी आफत है। मैं आनन्द से बैठा हूं। नहीं, महाराज! धीरे-धीरे चलो। ऊपर की ओर मत देखो। नीचे ही देखते चलो। और सचमुच नीचे देखकर चलने से अढ़ाई हजार सीढ़ियां तो पहुंचा ही। यह ठीक है थक गया था। आधा घण्टे विश्राम किया। उसके बाद भक्त ने कहा, जाने की इच्छा है। मैंने कहा, तू चल न भाई। तुझे क्या पड़ी है? नहीं महाराज, मुझे तो भगवान् ने भेज ही दिया। आप चलिये तो, सत्संग तो होगा। यहां तो दम फूल रहा है। सांस फूल रही है और तुम सत्संग की बात करते हो। गया अम्बा मन्दिर तक। अम्बे मन्दिर तक जाने के बाद कुछ सीढ़ियां नीचे जाती हैं फिर ऊपर चलो। जब इतनी दूर आये ही हैं तो चलें। और चले गये। आखिर पहले क्या लगा? पहले लगा नहीं बाबा। हमारे लिये नहीं है। जा ही नहीं सकते। अन्त में क्या हुआ साढ़े सात हजार सीढ़ियां जाना और साढ़े सात हजार सीढ़ियां आना। यह तो तय कर लिया। कैसे कर लिया? ऊपर की ओर मत देखो महाराज! ऊपर देखने से लगेगा बहुत दूर है, बहुत दूर है। बहुत सीढ़ियां चढ़नी है। तो मतलब यह कि साधना के क्षेत्र में भी हमें लगता है बहुत ऊंचा है। और बहुत ऊंचा है लगने से निराश हो जाते हैं। हताश हो जाते हैं। हमारे लिये कहा है—हम जहां खड़े है थोड़ा-थोड़ा सांचा दे दिया, आदर्श बनाकर दे दिया, अब हम इस सांचे में आदर्श के अनुसार जितना बन सकता है धीरे-धीरे यथाशक्ति प्रयत्न करें। यह भक्तियोग का कथन है, भगवान् का कथन है। तुमसे यह सधेगा। भक्ति का पथ सीधा और सहज है। ज्ञान का पथ कठिन है जिसका प्रतिपादन आगे 13वें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार में हम आगे देखेंगे।

श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी गीता कोई सामान्य कविता नहीं है, अपितु वह तो अनहद नाद है। वह किसी कवि की कल्पित कविता नहीं है, तुम्हारे अन्दर बैठे हुए अज्ञान को नष्ट करने वाली महाऔषधि है।

जम्भेश्वरजी महाराज

भक्ति ने भारत देश की रक्षा की

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मुस्लिम काल एक भीषण संकट बनकर आया था। वैसे तो भारत में पहले ही कई आक्रमणकारी आ चुके थे, किन्तु वे भारतीय समाज में घुल-मिल गए थे। मुस्लिम आक्रमण के साथ भारत की सीमाओं के भीतर पहली बार ऐसे लोग आकर बसने लगे थे, जो आचार, विचार, धार्मिक आस्था तथा सांस्कृतिक आदर्श—सभी में भारतीय समाज से भिन्न थे तथा जो न अपनी भिन्नता को त्यागने के लिए राजी थे और न ही भारतीयों को स्वयं अपनी भिन्नता को रखते हुए अपने आचार धर्म पर चलने की छूट तक देने के लिए तैयार थे, वरन् वे तो इस धरती का खाते-पीते, किसी अन्य देश तथा धर्म में आस्था रखते हुए इस धरती के बेटों को भी तलवार की नोक से अपने धर्म और संस्कृति का गुलाम बनाने के लिए कटिबद्ध थे।

हिन्दू समाज का उच्च वर्ग स्वधर्म की रक्षा भावना के कारण संकीर्णता और सामाजिक रूढियों से लगातार घिरता हुआ संकुचित और कठोर होता जा रहा था। निम्न वर्गों के हिन्दू लोग मुसलमानों द्वारा तो कष्ट पा ही रहे थे साथ ही उच्च वर्णीय हिन्दू भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार कभी-कभी उन्हें लगता था कि इस्लाम समता का संदेश दे रहा है। सामन्तवादी व्यवस्था के कारण भी पिछड़े वर्गों की छटपटाहट बढ़ती जा रही थी।

भारत में ऐसा विकट युग प्रारम्भ हुआ जबकि लगने लगा कि हिन्दुओं का आश्रयदाता अब कोई नहीं है। हिन्दू राजा अधिकांशतः पराजित या मुसलमानों के शरणागत हो चुके थे। हिन्दुओं की बड़ी सैन्य मुस्लिम सत्ता के विस्तार के लिये ही लगती थी। हिन्दुओं के विशाल मन्दिर भूमिसात कर दिये गये थे और हिन्दू बने रहने के लिये वे जजिया टैक्स देकर अपमानित और तिरस्कृत जीवन जीने के लिये मजबूर थे। इस विचित्र कालखण्ड में हिन्दू कहां जाएं यह यक्ष प्रश्न सभी के सामने खड़ा था। इस्लाम विजेता और शरणदाता के रूप में इन सभी को अपने अन्दर मिला लेने को हाथ फैलाकर स्वागत करने को तैयार खड़ा था।

यही वह समय था, जब भारत की आध्यात्मिक मनीषा 'भक्तिभाव' के रूप में सम्पूर्ण देश में प्रकट होने लगी। पराजित और किंकर्तव्यविमूढ हिन्दू समाज

के परम आश्रयदाता के रूप में स्थान-स्थान पर भक्त और संत खड़े होने लगे। इन्होंने हिन्दुओं की निराशा और हताशा को समझा और भक्ति का मंच प्रदान किया। उनके आत्मविश्वास को पुनः जगाया। उनमें आ गई विकृतियों, कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध भी संघर्ष करने से चूके नहीं। मौका पड़ते ही विदेशी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का कोई भी मौका उन्होंने नहीं छोड़ा और हिन्दू समाज को राज दरबार की भक्ति के बजाय ईश्वर भक्ति की ओर बड़ी कुशलता से मोड़ दिया। उस कठिन काल में से हिन्दू समाज को सुरक्षित निकालकर लाने का श्रेय समाज के अन्दर व्याप्त भक्तिभाव को ही जाता है।

सभी आध्यात्मिक महापुरुषों की यह धारणा पक्की और स्थायी थी कि प्रभुस्मरण ही प्रभु से मिलने का एकमात्र सरल सहज मार्ग है। जातिगत भेदभाव तथा वर्ण व्यवस्था का इसमें कोई महत्त्व नहीं रहा। पूजा-कर्मकाण्ड आदि के बाह्याडम्बर तथा मन्त्र, श्लोक आदि की जटिलताओं एवं लौकिक शिक्षा आदि की इसमें कोई आवश्यकता नहीं थी, भक्तिभाव के साथ हरिस्मरण सभी के लिये सुगमता से ग्राह्य था, संतों और भक्तों के प्रेमपूर्ण व्यवहार आदर्श जीवन तथा उत्कट भक्ति के बल पर जातिगत, वर्णगत सम्प्रदायगत और ऊंच-नीच, छूत-अछूत आदि विभेदों की दीवार को चूर-चूर कर दिया। इनकी हृदयस्पर्शी वाणी का भक्ति प्रवाह देश-काल परिस्थिति के अनुसार भक्ति के नये-नये आयामों के साथ समाज के सम्मुख रखा जिससे इनके लाखों अनुयायी सभी प्रकार के भेदभावों को भुलाकर मुस्लिम शासकों के विरोध और अत्याचारों के बावजूद निर्धारित लक्ष्य की ओर निरंतर गतिमान रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं जब दुनिया में इस्लाम की आंधी चली तो उसने स्पेन से लेकर इंडोनेशिया तक को अपने में लील लिया। वहां की पूर्व सभ्यता-संस्कृति को नष्ट कर अपने इस्लाम को थोप दिया। वहां भारत में इस दृष्टि से कुछ भी सफलता उन्हें नहीं मिली।

दीने मुहम्मदी का बेबाक बेड़ा,
न जेजों में ठैरा न कुलजम में अटका।
किये जिसने तै चलके सातों समुन्दर,
वह डूबा दहाने में गंगा के आखिर।।

अर्थात् अरब देश का वह निडर बेड़ा जिसकी ध्वजा विश्वभर में फहरा चुकी थी, किसी प्रकार का भय जिसका मार्ग न रोक सका था, जो अरब और ब्लूचीस्तान के मध्य वाली खाड़ी में भी नहीं रुका था और लाल सागर में भी नहीं झिझका था, जिसने सातों समुद्र ढाल के नीचे कर लिए थे, वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस्लाम की अखिल भारतीय सत्ता के केन्द्र यदि दिल्ली, आगरा और फतेहपुर सीकरी आदि थे, तो वहीं काशी, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, पण्ढरपुर तथा कांचीपुरम आदि ने भी उसी दृढ़ता के साथ भक्ति-जागरण एवं अध्यात्म साधना के दायित्व को संभाले रखा। इस प्रकार हरिभक्ति के द्वारा देश की रक्षा हुई। और हरिभक्त सभी वर्णों, जाति और वर्गों से आये—श्री रामानुजाचार्य, श्री राघवाचार्य, संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ, श्री गुरुनानक देव, मीराबाई, समर्थ रामदास आदि उच्च कुल से आये तो दक्षिण के बारह आलवार वैष्णव भक्तों में अनेक तथाकथित निम्न वर्ग के थे। महाराष्ट्र के संतों में गोरा और संत रांका (कुम्हार), संत नामदेव (दर्जी), संत सांवता (माली) संत नरहरि (सुनार), संत जोगा (तेली), संत श्यामा (चूड़ीवाला), संत बंका और संत चौखा (महार) तथा संत कान्होपात्रा (वेश्या पुत्री) थे, कश्मीर का संत अल्ला मेहतर जाति की थी अथवा ब्राह्मण पता ही नहीं चला। संत कबीर (जुलाहा), संत सेना (नाई), संत धन्ना (जाट), संत रैदास (चर्मकार), संत सिंगाजी (ग्वाला), संत दादू (धुनिया), संत वषना (मौरासी) संत बुल्ला साहब (कुर्मी), संत दीन (दरवेश), संत रज्जब (लौहार), संत दरिया (मारवाड़वाले धुनिया), संत दरिया साहब (दर्जी), संत लालगिरि (चर्मकार), गुजरात के संत अरवा (सुनार) थे। आन्ध्र के मोल्ला (कुम्हारिन) तथा वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी (बढ़ई) थे, आदि। इन सबने सामाजिक विषमता के भेदभाव को भोगा, कष्ट अपमान स्वयं अपने जीवन में अनुभव किया। इन सबने डंके की चोट पर कहा था—सारी मानव जाति एक है। सब ईश्वर की संतान हैं। सामाजिक भेदभाव मनुष्यकृत और कृत्रिम है। सभी ईश्वर भक्ति और उसकी कृपा पाने के अधिकारी हैं।

इस प्रकार विकट मुस्लिम काल में संतों द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की सहज एवं दृढ़ भक्ति ने हिन्दू समाज की रक्षा की।

इंडोनेशिया की स्वाधीनता के अवसर पर लोगों ने हाथ में गीता लेकर स्वाधीनता की रक्षा की शपथ ली। राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा कि हममें अर्जुन का बल और कृष्ण की बुद्धि है। बाली द्वीप के लोगों ने भगवद्गीता को हाथ में लेकर स्वाधीनता की शपथ ली।

गीता की विविध क्षेत्रों में प्रतिष्ठा

विश्वमनीषा का श्रेष्ठ सम्पद् श्रीमद्भगवत्गीता भारतीय शाश्वत संस्कृति का निर्यास (रस, नवनीत)। जगत् के सारस्वत समाज को भारत का श्रेष्ठ दान यह सद्ग्रंथ। बहुदिन पहले प्रतीचच्भूखण्डे अंग्रेज मनीषी कार्लाइल मार्किन मनीषी इमर्सन के साथ साक्षात् के समय गीता उपहार के माध्यम से परस्पर सौहार्द को सुदृढ़ करते हैं। विश्व के समुन्नतषटत्रिःशत भाषा में इस ग्रंथ का प्रायः तीन सहस्र संस्करण हुआ है। विश्व के इतिहास में यथार्थ गण साहित्य यह गीता है। पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, स्त्री-पुरुष, शिक्षक-सैनिक, कर्मी-व्यवसायी, छात्र-श्रमिक, त्यागी-भोगी सकल के पास इस ग्रंथ का आवेदन (या वक्तव्य) है। निर्जन गुहावासी, निष्किन्चन तपस्वी से राजप्रासादवासी-धनी, सर्व कर्म-त्यागी साधु से लेकर सदा कर्मनिष्ठ राजनीतिक नेता पर्यन्त सभी जीवन का पाथेय इस गीता से प्राप्त करते हैं। गीता मानव समाज का ज्ञान-कल्पतरु। इसलिए युग-युग से गीता के ऊपर रचित हुआ है असंख्य भाष्य। मनीषी द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर गीता को बोलते हैं भारत के कुटीर का बिना तेल का प्रदीप। महात्मा गांधी के मत में गीता है शान्ति एवं शक्तिप्रदायनी माता। अध्यात्म जगत् में गीता की साधना सुविदित है। किन्तु देश के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम एवं आन्तर्जातिक मैत्री साधना में गीता की अनन्य असाधारण भूमिका अविस्मरणीय है। गीता के निष्काम कर्मयोग, आत्म समर्पण योग आत्मतत्त्व एवं स्थितप्रज्ञत्व के आदर्श के द्वारा भारत के स्वाधीनता संग्राम में मुक्तियोद्धाओं को उद्बुद्ध किया था। भारत का प्रायः सकल विप्लव का अवश्य पाठ्यग्रंथ था यह गीता। पुनः अहिंस्र संग्रामीगण को भी गीता की वाणी से मिली है आदर्श की प्रेरणा। सहिंस्र एवं अहिंस्र भारत के मुक्तिसंग्राम के उभय पथ के पथिकों के पथ का पार्थक्य रहने से भी लक्ष्य एक, वैसी पाथेय भी एक और वह था श्रीमद्भगवत्गीता? तभी विप्लवी योगी ऋषि अरविन्द, चरमपंथी नेता लोकमान्य तिलक, पुनः अहिंसा संग्रामी महात्मा गांधी, भूदान आन्दोलन के प्रवर्तक निरीह विनोबा भावे गीता का प्रवचन के लिये समुत्सुक रचना की है। स्व-स्व आदर्श के आलोक में गीता का विशाल भाष्य। बाल्यावस्था से गीताध्यायी—महासंग्रामी नेताजी सुभाषचन्द्र कांग्रेस के नेता के हिसाब से कारागार में सहकर्मी तरुण गणों

को नित्य गीता पाठ के लिये प्रवर्तना देते हैं। पुनः आजाद हिन्द फौज के महानायक रूप में रणक्षेत्र में बमवर्षण के बीच में पाकेट में एक छोटी गीता आलेख्यधृता माता कालिका एवं तुलसी मालिका। खुदीराम, कन्हाईलाल, विनय-बादल-दिनेश, प्रफुल्ल प्रभृति दधीचि के दल में एवं जेल में गीता का नित्यपाठ करते थे। अवेस्ता, बाइबिल, कुरान, त्रिपिटक आदि इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से देश के राष्ट्रीय मुक्तिसंग्राम में मरणपण सैनिकों को प्रबुद्ध किया या नहीं, जानता नहीं। लेकिन इतना बोलता हूँ कि गीता सिर्फ धर्म ग्रंथ नहीं है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा चतुवर्ग तथा सामग्रिक जीवन पथ का समयसारणी तथा टाइम-टेबुल सकल पथ के यात्रियों का अपरिहार्य ग्रंथ। सिर्फ व्यक्तियों या राष्ट्र विशेष का नहीं, समग्र विश्व का संकट निरसन के लिए अपरिहार्य ग्रंथ है। विश्व शांति एवं विश्व कल्याण की दृष्टि से राष्ट्रसंघ (U.N.O.) की प्रतिष्ठा। उसके उद्देश्य को लेकर राष्ट्रसंघ के प्राक्तन सेक्रेटरी जेनरल स्वर्गत दयाग् हयामारशिल्ड् बोलते हैं—फलाकांक्षा करके कर्म करने की अपेक्षा फलाशा त्याग कर कर्म करना बहुत अच्छा है। यह उपदेश सभी युग में सभी दर्शन की चूडान्त कथा है। राष्ट्रसंघ के प्रबल प्रचेष्टा से हम लोग यदि गीता का यह उपदेश अनुसरण कर चल सके तभी हम लोग सुखी होंगे।

The Bhagavad Gita echoes on experience of all ages and all philosophies when it says-work with anxiety about results is far inferior to work without such anxiety, an calm self-surrender. These words expressed deep faith and we will be happy if we can make that faith ours in all our efforts.

जर्मनी के आणविक वैज्ञानिक ओपेनहाइमर ने गीता का श्लोक पाठ करके लब्ध आणविक गवेषणा की घोषणा की। नोबेल पुरस्कार प्राप्त जीव विज्ञानी आल्डुअस हक्सले ने गीता का अनुवाद किया है और स्वदेशी गणितज्ञ नारलीकर ने गीता कंठस्थ की है। प्रत्येक मनुष्य जीवन संग्राम में, रणक्लान्त सैनिक, अर्जुन के समान विषाद ग्रस्त। विषाद से मुक्ति सभी का काम्य है। अर्जुन को उपलक्ष करके शाश्वतकाल के निखिल मानव को विषाद के हाथ से मुक्ति तथा मोक्ष के लिए योग मार्ग का भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में प्रदर्शन किया है।

मैक्स वेबर जैसे महान समाजशास्त्री ने गीता को राजनीति और नैतिकता के अंतःसम्बन्ध पर विश्व में एक मात्र सुसंगत पाठ्य सामग्री कहा था।